बारह भावना : एक अनुशीलन

लेखक :

डॉ॰ हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम॰ए॰, पीएच॰ डी॰

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए–4, बापूनगर, जयपुर-302015

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–4, बापूनगर, जयपुर-302015

प्रथम छह संस्करण	:	36 हजार 200
(22 अप्रैल, 1985 से अद्यतन)		
सप्तम संस्करण	:	2 हजार
(14 नवम्बर, 2006)		
योग	:	38 हजार 200

मूल्य : पन्द्रह रुपये

मुद्रक :
प्रिन्ट औ लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

(सप्तम संस्करण)

डॉ. भारिल्ल की लोकप्रिय कृति 'बारह भावना : एक अनुशीलन' का यह सप्तम संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

उक्त कृति के प्रकाशन के सन्दर्भ में प्रथम संस्करण के प्रकाशकीय का निम्नांकित अंश द्रष्टव्य है –

डॉ साहब से मेरा अति निकट का सम्पर्क है; अतः मैं उनसे आत्मधर्म के सम्पादकीयों के रूप में वैराग्यवर्द्धक बारह भावनाओं सम्बन्धी लेखमाला चलाने का अनुरोध करता ही रहता था। उनका विचार भी 'जिनवरस्य नयचक्रम्'[1] के बाद इन पर लिखने का था। पर जब वीतराग-विज्ञान का प्रकाशन पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से आरंभ हुआ तो 'जिनवरस्य नयचक्रम्' के लेखमाला को बीच में ही रोककर मेरे अनुरोध को सम्मान देते हुए डॉ. भारिल्ल ने 'बारह भावना : एक अनुशीलन' लेखमाला आरंभ की। मेरे अनुरोध पर इसमें उन्होंने आचार्यों, मुनिराजों एवं आध्यात्मिक विद्वानों की उपलब्ध लगभग सभी बारह भावनाओं पर गम्भीर आध्यात्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जो मूलतः पठनीय है।

वीतराग-विज्ञान में सितम्बर 1983 से लगातार प्रकाशित इस लेखमाला के सन्दर्भ में हमें प्रशंसात्मक पत्र मिले हैं, जिनमें इसे पुस्तकाकार प्रकाशन के भी सुझाव थे। मात्र सुझाव ही नहीं, अपितु भावुक अनुरोध भी थे। यद्यपि पहले से ही हमारा विचार क्रमबद्धपर्याय, धर्म के दशलक्षण एवं जिनवरस्य नयचक्रम् के समान इसे भी पुस्तकाकार प्रकाशित करने का था, तथापि पाठकों के सुझावों एवं स्नेहिल अनुरोधों से हमें पर्याप्त बल मिला है।

इन सबका ही सुपरिणाम है कि लेखमाला विगत माह में ही समाप्त हुई और यह पुस्तकाकार कृति आपके हाथों में है। इससे अधिक शीघ्रता संभव ही न थी; क्योंकि इसका लेखन कार्य ही मार्च 1985 के आरम्भ में समाप्त हुआ है।

1. अब यह कृति 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' नाम से उपलब्ध है।

अल्प समय में ही इस कृति की 36 हजार 200 प्रतियों का समाप्त होना तथा 2 हजार की संख्या में सप्तम् संस्करण प्रकाशित होना पुस्तक की लोकप्रियता का ज्वलन्त प्रमाण है।

डॉ. भारिल्ल ने 'बारह भावना : एक अनुशीलन' के साथ-साथ अध्यात्म रस से सराबोर सुन्दरतम पद्यमय बारह भावनाएँ भी लिखी हैं, जो वीतराग-विज्ञान के प्रथम पृष्ठ में तो नियमित प्रकाशित होती ही रही है, उन्हें इस पुस्तक में भी स्थान दिया गया है। इसके साथ ही पाठ करनेवालों की सुविधा की दृष्टि से उन्हें 'बारह भावना' नाम से पृथक् से प्रकाशित किया गया है। इस 'बारह भावना' नाम के अबतक पाँच संस्करण 35 हजार 600 की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं जो गौरव का विषय है। सामान्यार्थ के साथ प्रकाशित पद्यमय बारह भावना पर्वों एवं अच्छे-बुरे प्रसंगों पर वितरण के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

बारह भावनाएँ घर-घर गूँजे इसके लिए विशेष प्रयास कर मधुर स्वरों में वाद्य यंत्रों के साथ कैसिट भी तैयार की गई, जो अब तक 40 हजार की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि कैसिट से लोग स्वयं अनेक कैसिटें टेप कर लेते हैं। इसप्रकार यह कैसिट अबतक कई गुना फैल चुकी है। शारीरिक अस्वस्थता के समय अपना उपयोग आत्मोन्मुख करने के लिए यह वैराग्योत्पादक कैसिट अत्यन्त उपयोगी है।

यह पद्यमय 'बारह भावना' 36 हजार 200 इस अनुशीलन के साथ एवं 35 हजार 600 स्वतंत्र रूप से तथा वीतराग-विज्ञान एवं मराठी आत्मधर्म दोनों मिलाकर 6 हजार साथ ही 'जिनेन्द्र वन्दना' एवं 'बारह भावना' पाकेट बुक्स के रूप में भी 1 लाख 6 हजार की संख्या में सोलह संस्करणों में प्रकाशित हो चुकी हैं। इसीप्रकार यह 'बारह भावना : एक अनुशीलन' वीतराग-विज्ञान एवं मराठी, तमिल आत्मधर्मों में मिलाकर 13 हजार तथा 34 हजार 200 के ये सात संस्करण इसप्रकार कुल 2 लाख 31 हजार प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन के मूल सृजनहार डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल को हम जितना भी धन्यवाद दें, कम है, क्योंकि उनकी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा ही यह संस्था तथा श्री टोडरमल स्मारक भवन के छत के नीचे चलने वाली समस्त गतिविधियाँ चल रही हैं, इनमें मूलाधार वे ही हैं। उनकी लेखनी व वाणी में जादू

भरा ओज है, जो पाठकों एवं श्रोताओं को एकदम आकर्षित कर लेता है। यही कारण है कि भारत के बाहर बसे हुए भारतवासी भी उन्हें अति आग्रहपूर्वक धर्मप्रचारार्थ आमंत्रित करते हैं। फलतः वे विगत 22 वर्षों से हर वर्ष 2 माह यूरोप एवं अमेरिका के विभिन्न नगरों में अध्यात्म का डंका बजा रहे हैं। उनकी इस लोकप्रियता और सम्मान पर संस्थान गर्व का अनुभव करती है और संस्था के प्रति उनके समर्पण के लिए उनका आभार मानती है।

डॉ. भारिल्ल उन प्रतिभाशाली विद्वानों में है, जो आज समाज में सर्वाधिक पढ़े एवं सुने जाते हैं। वे न केवल लोकप्रिय प्रवचनकार एवं कुशल अध्यापक ही हैं, अपितु सिद्धहस्त लेखक, कुशल कथाकार, सफल सम्पादक एवं आध्यात्मिक कवि भी हैं।

साहित्य व समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी गति अबाध है। तत्त्वप्रचार की गतिविधियों को निरन्तर गति प्रदान करनेवाली उनकी नित नई सूझ-बूझ, अद्‌भुत प्रशासनिक क्षमता एवं पैनी पकड़ का ही परिणाम है कि आज जयपुर आध्यात्मिक गतिविधियों का केन्द्र बनता जा रहा है।

आपने 'समयसार अनुशीलन', 'क्रमबद्धपर्याय' एवं 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' जैसे गूढ़ दार्शनिक विषयों को स्पष्ट करनेवाली कृतियाँ लिखीं, जिन्होंने आगम एवं अध्यात्म के गहन रहस्यों को सरलभाषा में सुबोध शैली में प्रस्तुत कर श्री कानजीस्वामी द्वारा व्याख्यायित जिनसिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यही कारण है कि पूज्य गुरुदेवश्री की उन पर अपार कृपा रही। वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा करते थे कि 'पण्डित हुकमचन्द' का वर्तमान तत्त्वप्रचार में बड़ा हाथ है।

उत्तमक्षमादि दशधर्मों का विश्लेषण जिस गहराई से आपने 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक में किया है, उसने जनसामान्य के साथ-साथ विद्वत्वर्ग का भी मन मोह लिया। जिसे पढ़कर स्व. पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री कह उठे थे कि 'डॉ. भारिल्ल की लेखनी को सरस्वती का वरदान है।'

'सत्य की खोज', 'तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ', 'मैं कौन हूँ', 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व', 'आप कुछ भी कहो', 'चिन्तन की गहराईयाँ', 'सूक्ति सुधा' तथा 'बिखरे मोती' जैसी कृतियाँ

अपने आप में अद्वितीय हैं। अधिक क्या लिखें, उनका सम्पूर्ण साहित्य ही आत्महितकारी होने से बार-बार पढ़ने योग्य है। आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह के अवसर पर प्रकाशित आपकी कृति 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम', 'शुद्धात्म शतक' तथा 'कुन्दकुन्द शतक' ने भी अपार ख्याति अर्जित की है।

इसीप्रकार शाकाहार वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित 'शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में' पुस्तिका ने प्रकाशन के सारे रिकार्ड तोड़ दिए हैं तथा हिन्दी, गुजराती, मराठी व अंग्रेजी में अब तक 3 लाख 5 हजार 200 प्रतियाँ प्रकाशित की जा चुकी हैं, जो एक रिकार्ड है।

समयसार अनुशीलन के अबतक पाँच भाग तो प्रकाशित हो ही चुके हैं। वर्तमान में आप 'प्रवचनसार : एक अनुशीलन' के लेखन में व्यस्त हैं जिसका प्रथम भाग तो प्रकाशित हो ही चुका है। उक्त ग्रन्थ के सम्पूर्ण भाग प्रकाशित होने पर निश्चित ही प्रकाशन के क्षेत्र में नए मानदण्ड स्थापित होंगे, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

आपके द्वारा लिखित व सम्पादित लोकप्रिय महत्वपूर्ण प्रकाशनों की सूची पृथक् से अन्यत्र प्रकाशित की गई है।

इस कृति को अल्पमूल्य में जन-जन तक पहुँचाने हेतु जिन महानुभावों ने अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उनका भी हम हृदय से आभार मानते हैं।

असली आभार और अभिनन्दन के पात्र तो पूज्य श्री कानजी स्वामी ही है, जिन्होंने डॉ. भारिल्ल सहित हम सबका जीवन घड़ा है। यदि उनका सत्समागम न मिलता तो हम सभी की न मालूम क्या स्थिति होती? अतः उनका जितना भी उपकार माना जाए, कम है।

अन्त में इस भावना के साथ विराम लेता हूँ कि सभी आत्मार्थी जन इन भावनाओं से, भावनाओं के इस अनुशीलन से अपनी भावना निर्मल करें।

– ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
प्रकाशन मंत्री : पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

विषय सूची

			पृष्ठ
	मेरी भावना	...	१
१.	अनुप्रेक्षा : एक अनुशीलन	...	९
२.	अनित्यभावना	...	२०
३.	अनित्यभावना : एक अनुशीलन	...	२२
४.	अशरणभावना	...	३२
५.	अशरणभावना : एक अनुशीलन	...	३४
६.	संसारभावना	...	४५
७.	संसारभावना : एक अनुशीलन	...	४७
८.	एकत्वभावना	...	५८
९.	एकत्वभावना : एक अनुशीलन	...	६०
१०.	अन्यत्वभावना	...	७२
११.	अन्यत्वभावना : एक अनुशीलन	...	७४
१२.	अशुचिभावना	...	८५
१३.	अशुचिभावना : एक अनुशीलन	...	८७
१४.	आस्रवभावना	...	९७
१५.	आस्रवभावना : एक अनुशीलन	...	९९
१६.	संवरभावना	...	११३
१७.	संवरभावना : एक अनुशीलन	...	११५
१८.	निर्जराभावना	...	१२६
१९.	निर्जराभावना : एक अनुशीलन	...	१२८
२०.	लोकभावना	...	१३७
२१.	लोकभावना : एक अनुशीलन	...	१३९
२२.	बोधिदुर्लभभावना	...	१४८
२३.	बोधिदुर्लभभावना : एक अनुशीलन	...	१५०
२४.	धर्मभावना	...	१६०
२५.	धर्मभावना : एक अनुशीलन	...	१६२
२७.	अभिमत	...	१७४
२६.	सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची	...	१८०

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	श्री मनोहरलाल काला अमृत महोत्सव समिति, इन्दौर	1001.00
2.	श्री दिग. जैन नेमिनाथ पंचकल्याणक समिति, किशनगढ़	1001.00
3.	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	501.00
4.	श्रीमती कुसुम जैन ध.प. श्री विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमिकल्स' दिल्ली	501.00
5.	श्री दिलीप सेठी, कोलकाता	501.00
6.	श्री फूलचंदजी पाटनी, कोलकाता	501.00
7.	श्री गुलाबचन्द पदमचन्दजी दोशी, पीसांगन	501.00
8.	श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन, नौगाँवा	501.00
9.	श्री ज्ञानचन्द अशोककुमारजी जैन, नौगाँवा	501.00
10.	श्री प्रभातीलाल मखनलालजी जैन, फिरोजपुर झिरका	501.00
11.	श्री टीकमचन्द हेमेन्द्रकुमारजी जैन, नौगाँवा	501.00
12.	श्रीमती राजुल ध.प. प्रदीपकुमारजी गंगवाल, इन्दौर	500.00
13.	श्रीमती राजुल ध.प. स्व. श्री जयकुमारजी छाबड़ा, इन्दौर	500.00
14.	श्री पानाचन्द अशोककुमारजी जैन, पीसांगन	500.00
15.	श्री ऋषभकुमारजी जैन, इन्दौर	500.00
16.	श्री विहारीलाल रामप्रसादजी जैन, नौगाँवा	500.00
17.	कुमारी मीना सुपुत्री श्री ऊषा ध.प. टीकमचन्दजी पंचौली, इन्दौर	300.00
18.	श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	251.00
19.	श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लाडनूँ	251.00
20.	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	251.00
21.	ब्र. कुसुमताई पाटील कुंभोज	251.00
22.	श्रीमती नीलू ध.प. राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	201.00
23.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	201.00
24.	स्व. धापू देवी ध.प. स्व. ताराचन्दजी गंगवाल जयपुर की पुण्य स्मृति में	151.00
25.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101.00
	कुल राशि	**10,969.00**

मेरी भावना

जब मैं अपने विगत चालीस वर्षों के जीवन पर दृष्टि डालता हूँ तो एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है कि अनेक अभावों, संघर्षों और व्याधियों के बीच बीता यह जीवन आगम और परमागम के अभ्यास में अनवरतरूप से संलग्न रहा है।

इसका श्रेय पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी को तो है ही; पर मेरे भवभयभीरू धर्मप्रेमी माता-पिता को भी है, जिन्होंने अनन्त प्रतिकूलताओं के बीच भी दश वर्ष की अल्पवय में ही आगम के अभ्यास में लगा दिया और निरन्तर लगाये रखा।

यौवन के आरम्भ में ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का सत्समागम मिल जाने से अध्यात्म का रस लग गया और मैं बड़े ही उत्साह से अध्यात्म के प्रतिपादक परमागम के अभ्यास में संलग्न हो गया, गृहस्थोचित विषम स्थितियाँ एवं यौवन का उद्दाम प्रवाह उसमें बाधक न बन सका।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मेरे पूज्य पिताश्री ने मेरे जन्म से पूर्व ही नहीं, अपितु, उनकी शादी के पूर्व ही हमें जिनागम का विशेषज्ञ विद्वान बनाने का संकल्प कर रखा था। उनके वे शब्द मुझे बार-बार याद आते हैं, जो वे समय-समय पर बड़े ही गौरव से गद्‌गद होकर कहा करते थे।

हमारी जन्मभूमि के निकटवर्ती अतिशय क्षेत्र सेरोनजी के मेले के अवसर पर किसी विद्वान का प्रवचन सुनकर उन्होंने संकल्प किया था कि यदि उनकी शादी हुई और सन्तान हुई तो वे उसे ऐसा ही विद्वान बनावेंगे, जो हजारों के बीच धाराप्रवाह प्रवचन करे। अपने स्वप्न को साकार हुआ देख वे परमसन्तुष्ट थे, कृतकृत्य से हो गये थे।

पण्डित भूधरदास कृत बारह भावनाएँ वे प्रतिदिन प्रातःकाल बड़े ही गद्‌गद भाव से गाया करते थे। उनसे सुन-सुन कर हमें भी सात-आठ वर्ष की उम्र में ही वे बारह भावनाएँ कण्ठस्थ हो गई थीं।

बोधिदुर्लभभावना संबंधी निम्नांकित पंक्तियाँ मुझे बहुत ही आन्दोलित करती थीं -

"धन-कन-कंचन राजसुख, सबहि सुलभकर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥[१]

इस असार संसार में धन-धान्य, सोना-चाँदी एवं राजाओं जैसे भोग आदि सभी पदार्थ तो सुलभ ही हैं; पर एक सम्यग्ज्ञान ही दुर्लभ है।"

वैराग्यवर्धक बारह भावानाएँ मुक्तिपथ का पाथेय तो हैं ही, लौकिक जीवन में अत्यन्त उपयोगी हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगों से उत्पन्न उद्वेगों को शान्त करनेवाली ये बारह भावनाएँ व्यक्ति को विपत्तियों में धैर्य एवं सम्पत्तियों में विनम्रता प्रदान करती हैं, विषय-कषायों से विरक्त एवं धर्म में अनुरक्त रखती हैं, जीवन के मोह एवं मृत्यु के भय को क्षीण करती हैं, बहुमूल्य जीवन के एक-एक क्षण को आत्महित में संलग्न रह सार्थक कर लेने को निरन्तर प्रेरित करती हैं; जीवन के निर्माण में इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

बारह भावनाएँ जीवन में एक बार पढ़ लेने की वस्तु नहीं; प्रतिदिन पढ़ने, विचारने, चिन्तन करने, मनन करने की अलौकिक भावनाएँ हैं। कोई भी आध्यात्मिक रुचिवाला जैन व्यक्ति, यदि वह कवि है तो वह पद्यमय बारह भावनाएँ अवश्य लिखेगा।

यद्यपि मैं मूलत: कवि नहीं हूँ, तथापि मैंने भी यौवनारंभ में ही पद्यमय बारह भावनाएँ लिखी थीं, जो आज उपलब्ध नहीं हैं, कहीं गुम हो गई हैं। एक-एक भावना में अनेक-अनेक छन्द थे, जिनकी कुछ पंक्तियाँ मुझे आज भी याद हैं, जिन्हें मैं आज भी अपने प्रवचनों में यदा-कदा प्रसंगानुसार बोला करता हूँ।

जब शाश्वत सत्य के प्रतिपादक आध्यात्मिक मासिक आत्मधर्म का संपादन मेरे पास आया तो मैंने भी उसमें शाश्वत मूल्यों के प्रतिपादक संपादकीय ही लिखे; जो धर्म के दश लक्षण, क्रमबद्धपर्याय, चैतन्य चमत्कार

१. पण्डित भूधरदास कृत बारह भावना

और जिनवरस्य नयचक्रम् (पूर्वार्द्ध)[१] के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थाई रूप धारण कर चुके हैं, अनेक भाषाओं में जन-जन तक पहुँच चुके हैं।

'जिनवरस्य नयचक्रम्' के पूर्ण होने के बाद 'बारह भावना : एक अनुशीलन' लेखमाला आरंभ करने का संकल्प तो पहले से ही था; पर जब 'आत्मधर्म' ने विषम-परिस्थितियों में 'वीतराग-विज्ञान' का रूप धारण किया तो अनुभव किया गया कि इन विषम-स्थितियों में पत्र के आरंभ में ही संपादकीयों के रूप में नयचक्र जैसा जटिल विषय चलने देना पत्रिका के प्रचार-प्रसार के हित में उचित नहीं है। मेरे अनन्य सहयोगी पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के सुयोग्य मंत्री श्री नेमीचन्दजी पाटनी का अनुरोध तो था ही।

परिणामस्वरूप 'जिनवरस्य नयचक्रम्' लेखमाला को बीच में ही रोककर सितम्बर १९८३ में वीतराग-विज्ञान के संपादकीयों के रूप में 'बारह भावना : एक अनुशीलन' लेखमाला आरंभ की गई, जो विगत अंक (मार्च १९८५ ई.) में ही समाप्त हुई है।

आत्मधर्म व वीतराग-विज्ञान के आरंभ से ही प्रथम पृष्ठ पर हम एक आध्यात्मिक भजन देते रहे हैं। 'बारह भावना : एक अनुशीलन' लेखमाला आरम्भ करते समय विचार आया कि अनुशीलन के साथ-साथ बारह भावनाएँ पद्य में भी लिखी जावें और उन्हें अनुशीलन के साथ-साथ प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित किया जावे।

उक्त सन्दर्भ में बहुत पहले लिखी बारह भावनाएँ बहुत खोजीं, पर हमारी यह खोज निष्फल ही रही; पर अनुशीलन से उत्पन्न विशुद्धि के बल पर मैंने पुनः पद्यमय बारह भावनाएँ लिखने का संकल्प किया। परिणामस्वरूप यह पद्यमय बारह भावनाएँ एवं 'बारह भावना : एक अनुशीलन' आपके समक्ष सहज ही प्रस्तुत हो गया है।

अन्य संपादकीय लेखमालाओं के समान अब यह कृति भी पुस्तकाकार के रूप में प्रस्तुत है।

---

१. अब यह कृति पूर्ण होकर परमभाव प्रकाशक नयचक्र के रूप में उपलब्ध है।

इस कृति के साहित्यिक मूल्य एवं सामाजिक उपयोगिता के बारे में मुझे कुछ भी नहीं कहना है; क्योंकि यह कार्य साहित्य-समीक्षकों एवं समाजशास्त्रीय विद्वानों का है; पर यह कहने में मुझे रंचमात्र भी संकोच नहीं है कि इस कृति के प्रणयन ने इस संक्रान्ति काल में मुझे अद्‌भुत बल प्रदान किया है, मेरे चित्त को अपेक्षाकृत बहुत कुछ शान्त और स्थिर रखा है।

आत्मधर्म का संपादक होने के कारण पूज्य गुरुदेवश्री के महाप्रयाण से उत्पन्न विषमताओं के तूफानी वेग के थपेड़ों का मूल केन्द्रबिन्दु विगत चार वर्षों से लगभग मैं ही बना रहा हूँ।

परिस्थितियों के दुश्चक्र एवं छल-बल के अदभुत प्रयोगों से बार-बार छला जाकर भी निराश नहीं हुआ, पथभ्रष्ट नहीं हुआ; अपने सुनिश्चित पथ पर आज भी अडिग हूँ, निरन्तर गतिशील भी हूँ, पहले की अपेक्षा अब अपने को अधिक स्वाधीन एवं सशक्त अनुभव करता हूँ - यह सब उन बारह भावनाओं के निरन्तर अनुशीलन का ही सुपरिणाम है, जिन्होंने मनोबल को कभी टूटने नहीं दिया और आत्महित के लिए सदैव जागृत रखा।

आत्महित की प्रबल प्रेरक इन बारह भावनाओं के इस अनुशीलन ने चित्त को अघट घटनाओं में उलझने से बहुत-कुछ विरक्त रखा, लिप्त नहीं होने दिया। परिणामस्वरूप आत्मोन्मुखी चित्तवृत्तियाँ यहाँ-वहाँ न भटककर रचनात्मक कार्यों में संलग्न रहीं।

बारह भावनाओं के चिन्तन में संयोगों की अनित्यता, अशरणता, असारता आदि का जो अविरल चिन्तन चला; घटित घटनाओं का वैचित्र्य उस चिन्तन का उदाहरण मात्र बनकर रह गया, चित्त को विचलित न कर सका, अधिक चंचल न कर सका।

इसप्रकार इस अनुशीलन से घटना-वैचित्र्य को अविचल सहज ज्ञाता-दृष्टाभाव से देखते-जानते रहने का अद्‌भुत सामर्थ्य जागृत हुआ है, जिसने सहज आत्मशान्ति का मार्ग प्रशस्त किया है।

इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वर्तमान घटनाओं ने मेरे चित्त को विभक्त नहीं किया है, आन्दोलित नहीं किया है या मैं उनसे पूर्णत: अलिप्त

रहा हूँ; पर इतना अवश्य है कि उनमें पूर्णत: लिप्त भी नहीं हुआ और उस सीमा तक आन्दोलित भी नहीं हुआ कि जिससे मेरी आत्मिक शान्ति और रचनात्मक प्रवृत्तियाँ प्रभावित होतीं।

सम्पूर्ण घटनाचक्र से गहराई से जुड़ा हुआ होने पर भी मैं उससे विरक्त और अलिप्त रहने में जितना भी सफल हो सका हूँ, मेरे लिए वह अपने आप में एक अपूर्व उपलब्धि है; क्योंकि इसने मुझमें यह आत्मविश्वास जागृत कर दिया है कि अब में सांसारिक उलझनों से अलिप्त रहने के अपने संकल्प में एक सीमा तक अवश्य सफल हो सकूँगा।

भाई! जीवन का लगभग दो-तिहाई भाग तो समाप्त हो ही गया है। आगामी मास में जीवन के बहुमूल्य पचास वर्ष पूरे करने जा रहा हूँ। जीवन के शेष एक-तिहाई भाग को आत्महित और पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्राप्त वीतरागी तत्त्व को जन-जन तक पहुँचाने में ही सम्पूर्णत: समर्पित कर देना चाहता हूँ।

सद्भाग्य से अब मैं लगभग सभी पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त हो गया हूँ; जो शेष हैं, उनसे भी निवृत्त होने की दिशा में शीघ्रता से बढ़ रहा हूँ। ऐसे सौभाग्यशाली लोग बहुत कम होते हैं, जिन्हें गृहस्थी की कीचड़ में फँस जाने पर भी इस उम्र में इसप्रकार के अवसर उपलब्ध हो जाते हों। मैं इस अद्भुत अपूर्व अनुकूल अवसर को विगत चालीस वर्ष के आगम और अध्यात्म के निरन्तर अभ्यास का ही परिणाम मानता हूँ और इसे सार्थक कर लेने के लिए कृतसंकल्प हूँ।

बारह भावनाओं के गहरे अनुशीलन से उत्पन्न विशुद्धि के अवसर पर आत्महित के लिए कृतसंकल्प मैं अपने पाठकों, श्रोताओं, मित्रों एवं परिजनों से हार्दिक अनुरोध करता हूँ कि वे मुझे अपने इस संकल्प की पूर्ति में सहयोग प्रदान करें। उनका सबसे बड़ा सहयोग यही होगा कि वे मुझसे आत्महित संबंधी वार्ता, तत्त्वचर्चा एवं तत्त्वप्रचार संबंधी वार्ता के अतिरिक्त कोई लौकिक या सामाजिक चर्चा न करें; क्योंकि मैं स्वयं के शेष उत्तरदायित्वों को शीघ्र पूर्ण कर लौकिक व्यवहारों से पूर्णत: निवृत्त हो जाना चाहता हूँ। इसीप्रकार धार्मिक कार्यों को छोड़कर शेष सामाजिक कार्यों से भी अपने को अलग ही रखना चाहता हूँ।

इन कार्यों में शेष समय और शक्ति को निश्शेष करना मुझे रंचमात्र भी अभीष्ट नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री की साधनाभूमि तीर्थराज सोनगढ़ के प्रति गहन अनुराग भी मेरी एक ऐसी कमजोरी है कि वर्तमान सन्दर्भ में उसकी चर्चा भी मुझे आन्दोलित कर देती है। अत: वहाँ घटनेवाले वर्तमान घटनाचक्र से भी मैं अपने को पूर्णत: अलग रखना चाहता हूँ। इसमें भी आप सबका सहयोग अपेक्षित है।

लेखन के भी सन्दर्भ में मैं अपनी भावना स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त विषयों पर लिखना भी मेरी रुचि के अनुकूल नहीं है। अत: पत्र-पत्रिकाओं, स्मारिकाओं आदि के लिए लिखना भी मुझसे अब संभव न होगा; क्योंकि अब मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति उन आध्यात्मिक विषयों के लेखन में लगाना चाहता हूँ, जो मेरे चिन्तित विषय हैं, जिन पर मैंने वर्षों से अनुशीलन किया है, चिन्तन-मनन किया है; मैं चाहता हूँ कि वे विषय समय रहते लिपिबद्ध हो जावें।

चाहे परिस्थितिवश ही सही, पर मेरे हित की दृष्टि से बारह भावनाओं का यह अनुशीलन एकदम सही समय पर हुआ है; क्योंकि इस अनुशीलन ने मुझे सही समय पर जागृत कर दिया है।

मुझे विश्वास है कि इस अनुशीलन को जो भी व्यक्ति पवित्र हृदय से पढ़ेगा, मनन करेगा, चिन्तन करेगा, इसमें व्यक्त रहस्य को गहराई से अनुभव करेगा; उसकी भी जीवनधारा परिवर्तित हुए बिना नहीं रहेगी।

इस अनुशीलन में अद्यावधि उपलब्ध बारह भावना साहित्य में व्यक्त सभी बिन्दुओं पर गंभीर विचार किया गया है, सभी दृष्टिकोणों की सुसंगत समीक्षा की गई है; प्रत्येक दृष्टिकोण को तर्क की कसौटी पर कसा गया है, उसकी तर्क-संगत व्याख्या की गई है।

प्रथम निबन्ध में बारह भावनाओं का सामूहिक अनुशीलन किया गया है, जिसमें बारह भावनाओं के चिन्तन की आवश्यकता, उपयोगिता, महिमा एवं चिन्तन-प्रक्रिया के क्रमिक विकास आदि बिन्दुओं को स्पर्श किया गया है।

तत्पश्चात् बारह निबन्धों के माध्यम से प्रत्येक भावना की विषय-वस्तु एवं चिन्तन-मनन प्रक्रिया को आवश्यक उद्धरणों के साथ सोदाहरण स्पष्ट किया गया है। जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। संसारभावना और लोकभावना की चिन्तन-प्रक्रिया में मूलभूत अन्तर क्या हैं? - इसप्रकार की शंकाएँ यथास्थान स्वयं प्रस्तुत कर उनका समुचित समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस अनुशीलन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें बारह भावनाओं की मूल आत्मा आध्यात्मिकता एवं वैराग्यभावना पग-पग पर प्रस्फुटिक हुई है। तर्कसंगत गद्य अनुशीलन में बुद्धिपक्ष की प्रधानता होने से भावात्मक वैराग्यभावना को ठेस पहुँचने की संभावना पग-पग पर बनी रहती है; तथापि इसमें सर्वत्र यथासंभव सावधानी बरती गई है।

पद्यमय बारह भावनाओं में तो अध्यात्ममय वैराग्यभावना का तरलप्रवाह सर्वत्र दृष्टिगोचर होगा। तरलप्रवाह को बल देने के लिए पुनरुक्तियों का भरपूर प्रयोग हुआ है, पर भावना के प्रकरण में पुनरुक्ति दोष नहीं, गुण माना गया है।

आचार्य जयसेन लिखते हैं - "**भावनाग्रन्थेपुनरुक्तदोषाभावत्वाद्वा।**[१] - भावनाग्रन्थ में पुनरुक्ति को दोष नहीं माना जाता है।"

इन पद्यमय बारह भावनाओं को अध्यात्मप्रेमी समाज ने जिस उत्साह से अपनाया है, उसकी मुझे कल्पना भी न थी। २६ जनवरी, १९८५ को प्रकाशित दश हजार प्रतियों का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया है और ढाई माह के भीतर ही महावीर जयन्ती के अवसर पर ३ अप्रैल, १९८५ को दश हजार प्रतियों का ही दूसरा संस्करण छपाना पड़ा है। इसीप्रकार अबतक इसके चार हजार से भी अधिक कैसेट भी जन-जन तक पहुँच चुके हैं।

कैसेटों के सन्दर्भ में एक बात और भी उल्लेखनीय है कि जनता उनकी एक से अनेक प्रतियाँ स्वयं तैयार कर लेती है। इस प्रकार न जाने वे अबतक कितनी मात्रा में कहाँ-कहाँ पहुँच चुके होंगे - कुछ कहा नहीं जा सकता।

---

१. पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ७ की तात्पर्यवृत्ति टीका

इसके प्रणयन में मैंने आचार्य कुन्दकुन्द और स्वामी कार्तिकेय से लेकर अद्यावधि उपलब्ध बारह भावना साहित्य का भरपूर उपयोग किया है। जिन ग्रन्थों के उद्धरण या उल्लेख यथास्थान इस कृति में हुए हैं, उनके अतिरिक्त भी बहुत-सा साहित्य एवं साहित्यकार ऐसे रह गये हैं, जिनका भरपूर उपयोग मेरे चित्त के परिमार्जन एवं इस ग्रन्थ के प्रणयन में हुआ है। उन सभी का मैं चिर-कृतज्ञ हूँ।

इसमें मेरा कुछ भी नहीं है; जो भी है, वह सब आगम और परमागम में यत्र-तत्र उपलब्ध है; मैंने तो पूज्य गुरुदेवश्री से प्राप्त आध्यात्मिक दृष्टि से उसका गहरा अध्ययन कर, उसे इस रूप में मात्र व्यवस्थित ही कर दिया है। कर क्या दिया, सहज ही यह सब हो गया है।

यह परमागम का प्रसाद जो भी है, जैसा भी है; सभी आत्मार्थी बन्धुओं की सेवा में सादर समर्पित है, इस पावन भावना और विश्वास के साथ कि सभी आत्मार्थी इसका भरपूर उपयोग कर निज उपयोग को निज में ही लगा देंगे, निज में ही जम जायेंगे, निज में ही रम जायेंगे और सहजानन्द के धाम निज भगवान आत्मा की आराधना कर सहजानन्द को सहज ही उपलब्ध कर लेंगे।

इस कृति के अध्ययन से आत्मार्थी बन्धुओं को यदि आत्महित की थोड़ी भी प्रेरणा मिली तो मुझे आन्तरिक प्रसन्नता होगी, अन्यथा मुझे जो लाभ हुआ है, मेरा श्रम तो उतने से ही सार्थक हो गया है।

यदि कोई विशेषज्ञ बन्धु कृति के परिष्कार के लिए समुचित सुझाव देंगे तो हम उनका सच्चे हृदय से स्वागत करेंगे और अगले संस्करण में उनका यथासंभव उपयोग भी अवश्य करेंगे।

इस सम्पूर्ण कृति का मूल केन्द्र-बिन्दु एकमात्र - **'ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है'** - ही है। अत: सभी आत्मार्थीजन ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना में ही रत होकर अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करें - इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

अनुप्रेक्षा : एक अनुशीलन

मैं ध्येय हूँ श्रद्धेय हूँ मैं ज्ञेय हूँ मैं ज्ञान हूँ।
बस एक ज्ञायकभाव हूँ मैं मैं स्वयं भगवान हूँ॥
इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥

अनुप्रेक्षा जिनागम का सर्वाधिक चर्चित विषय है। प्रथमानुयोग के तो प्रत्येक ग्रन्थ में इनका प्रसंगानुसार वर्णन होता ही है; किन्तु इस विषय पर स्वतंत्ररूप से भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे दिग्गज आचार्यों ने भी इस विषय पर स्वतंत्ररूप से लिखना आवश्यक समझा। प्रथमानुयोग और स्वतंत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त भी सम्पूर्ण जिनागम में यथास्थान इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

जिनागम में प्राप्त सम्पूर्ण अनुप्रेक्षा साहित्य को एकत्रित किया जाय तो एक विशाल सन्दर्भ-ग्रन्थ तैयार हो सकता है।

हमारे इस अनुशीलन का उद्देश्य अनुप्रेक्षा-साहित्य का परिशीलन करना नहीं है और न उनका सन्दर्भ-ग्रन्थ तैयार करना ही है। हम तो जिनागम के आलोक में अनुप्रेक्षाओं के स्वरूप का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते हैं, आध्यात्मिक जीवन में इनके चिन्तन की आवश्यकता एवं उपयोगिता का तर्कसंगत विश्लेषण करना चाहते हैं। अनुप्रेक्षा साहित्य की प्रतिपादनशैली का मूल दृष्टिकोण एवं मूल केन्द्रबिन्दु का अनुसन्धान ही हमारा अभीष्ट है।

बारह प्रकार की होने से अनुप्रेक्षाओं को अधिकांशत: 'बारह भावना' के नाम से ही जाना जाता है। लोक में सर्वाधिक प्रचलित नाम 'बारह भावना' ही है, अनुप्रेक्षा नाम को विद्वत्समाज के अतिरिक्त बहुत कम लोग जानते हैं।

पद्यमय बारहभावनाओं का गाना, गुनगुनाना हमारी धर्मशील माता-बहिनों की दिनचर्या का मुख्य अंग है। आध्यात्मिक-धार्मिक जनों का यह सर्वाधिक प्रिय मानसिक भोजन है।

जिन बारह भावनाओं को स्वामी कार्तिकेय **भवियजणाणंद जणणीयो**[१] अर्थात् भव्यजीवों के आनन्द की जननी कहते हों तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य कुन्दकुन्द जिन्हें मुक्ति का साक्षात् कारण निरूपित करते हों; उन बारह भावनाओं का जन-जन की वस्तु बन जाना सहज ही है, स्वाभाविक ही है।

बारह भावनाओं का माहात्म्य व्यक्त करनेवाला आचार्य कुन्दकुन्द का कथन इसप्रकार है -

"किं पलवियेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तज्जाणह तस्स माहप्पं ॥[२]

इस विषय में अधिक प्रलाप करने से क्या लाभ है, बस इतना समझना कि भूतकाल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्य में भी जो भव्यजीव सिद्ध होंगे-यह सब इन बारह भावनाओं का ही माहात्म्य है।"

आचार्य पद्मनन्दि भी इन्हें कर्मक्षय का कारण बताते हैं -

"द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवत्येव कर्मणां क्षयकारणम्॥[३]

महान पुरुषों को बारह भावनाओं का सदा ही चिन्तवन करना चाहिए; क्योंकि उनकी भावना कर्मों के क्षय का कारण होती ही है।"

बारह भावनाओं के चिन्तन के लाभ गिनाते हुए शुभचन्द्राचार्य लिखते हैं -

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १
२. वारस अणुवेक्खा, गाथा ९०
३. पद्मनंदि पंचविंशतिका, उपासकसंस्कार अधिकार, छन्द ४२

"विध्याति कषायाग्नि विगलितरागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥[१]

इन बारह भावनाओं के अभ्यास से जीवों की कषायरूपी अग्नि शान्त होजाती है, राग गल जाता है, अन्धकार विलीन हो जाता है और हृदय में ज्ञानरूपी दीपक विकसित हो जाता है।"

पण्डित दौलतरामजी छहढाला में लिखते हैं -

"मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगन तें वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई॥
इन चिन्तत समसुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै॥[२]

जिसप्रकार माँ पुत्र को उत्पन्न करती है; उसी प्रकार बारह भावनाएँ वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली हैं। यही कारण है कि सांसारिक भोगों से अत्यन्त विरक्त बड़भागी (बड़े भाग्यवान) महाव्रतधारी मुनिराज भी इनका चिन्तवन करते हैं।

जिसप्रकार हवा के लगने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है; उसीप्रकार इन बारह भावनाओं के चिन्तन से समतारूपी सुख जागृत हो जाता है। जब यह जीव अपनी आत्मा को जानता है, पहचानता है और उसी में जम जाता है, रम जाता है; तब ही अतीन्द्रिय आनन्द को, परिपूर्ण दशा मुक्ति को प्राप्त करता है।"

अनुप्रेक्षा अर्थात् चिन्तन, बार-बार चिन्तन। किसी विषय की गहराई में जाने के लिए उसके स्वरूप का बार-बार विचार करना ही चिन्तन है। यद्यपि चिन्तन वस्तुस्वरूप के निर्णय के लिए किया जाता है; तथापि यदि विषय रुचिकर हो तो निर्णीत विषय भी बार-बार चिन्तन का आधार बनता है।

---

१. ज्ञानार्णव, भावना अधिकार, छन्द १९२
२. छहढाला, पाँचवीं ढाल, छन्द १ व २

चिन्तन ध्यान का प्रारम्भिक रूप है। रुचि ध्यान की नियामक होने से चिन्तन की भी नियामक है। जो विषय हमारी रुचि का होता है, उस पर सहज ही ध्यान जाता है, उसका चिन्तन-मनन भी सहज ही चलता है। किसी विषय को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) भी चिन्तन को प्रेरित करती है। जिज्ञासा जितनी प्रबल होगी, उसी के अनुपात में चिन्तन भी गम्भीर होगा। अत: चिन्तन शोध-खोज (रिसर्च) का आधार भी बनता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि चिन्तन किसी विषय को समझने के लिए भी होता है और समझे हुए विषय का भी।

अनुप्रेक्षा चिन्तनस्वरूप होने से ज्ञानात्मक है, ध्यानात्मक नहीं।

अनुप्रेक्षा और ध्यान का अन्तर स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंकदेव लिखते हैं -

"स्यादेतदनुप्रेक्षाऽपि धर्म्मध्यानेऽन्तर्भवतीति प्रथगासामुपदेशोऽनर्थक इति; तन्न, किं कारणम्? ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पत्वात्। अनित्यादिविषयचिन्तनं यदा ज्ञानं तदानुप्रेक्षाव्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिंतानिरोधस्तदा धर्म्मध्यानम्।[१]

अनुप्रेक्षाओं का धर्मध्यान में अन्तर्भाव हो जाने से उनका पृथक् कथन करना उचित नहीं है – यदि कोई ऐसा कहे तो उसका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि अनुप्रेक्षाएँ ज्ञानप्रवृत्ति-विकल्परूप हैं। अनित्यादि विषयों का चिन्तन जब ज्ञानरूप होता है, तब वह अनुप्रेक्षा कहलाता है और जब अनित्यादि विषयों में चित्त एकाग्र होता है, तब धर्मध्यान नाम पाता है।"

वैराग्योत्पादक तत्त्वपरक चिन्तन ही अनुप्रेक्षा है। आवश्यकता मात्र चिन्तन की नहीं, वैराग्योत्पादक चिन्तन की है, तत्त्वपरक चिन्तन की है। ऐसा कौनसा संज्ञी (मनसहित) प्राणी है, जो चिन्तन से रहित हो? पर सामान्यजनों के चिन्तन

---

१. राजवार्तिक, अध्याय ९, सूत्र ३६, वार्तिक १३

का विषय प्राय: पंचेन्द्रिय के विषय ही रहते हैं; कषायचक्र ही उनकी चिन्तनधारा का नियामक होता है।

विषय-कषाय की पूर्ति के लक्ष्य से किया गया चिन्तन अनुप्रेक्षा नहीं, चिन्ता है; जो चिता से भी अधिक दाहक होती है। कहा भी है -

"चिन्ता चेतन को दहे, चिता दहे निर्जीव।"

आवश्यकता चिन्तन और ध्यान के प्रशिक्षण की नहीं, अपितु सम्यक् दिशानिर्देश की है; क्योंकि चिन्तन और ध्यान तो संज्ञी प्राणी के सहज स्वभाव हैं। चिन्तन की धारा और ध्यान का ध्येय यदि सम्यक् न हो, स्पष्ट न हो तो चिन्तन और ध्यान भवतापनाशक न होकर भव-भव भटकाने के हेतु भी बन सकते हैं; अत: चिन्तन की धारा का नियमन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

चिन्तन की धारा का सम्यक् नियमन ही बारह भावनाओं का मूल प्रतिपाद्य है। संयोगों की क्षणभंगुरता, विकारों की विपरीतता, स्वभाव की सामर्थ्य एवं स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न पर्यायों की सुखकरता और दुर्लभता ही बारह भावनाओं के प्रतिपादन का मूल केन्द्रबिन्दु है; क्योंकि इसप्रकार का चिन्तन ही वैराग्योत्पादक एवं तत्त्वपरक होने से सम्यक् दिशाबोध दे सकता है।

इस दृष्टि से यदि हम बारह भावनाओं के अत्यधिक प्रचलित एवं कुछ अपवादों को छोड़कर सर्वमान्य क्रम का अध्ययन करें तो सहज ही पायेंगे कि उनमें आरम्भ की छह भावनाएँ वैराग्योत्पादक और अन्त की छह भावनाएँ तत्त्वपरक हैं; प्रत्येक के क्रम में भी एक सहज विकास दृष्टिगोचर होता है।

इस बात को विस्तार से समझने के लिए बारह भावनाओं के क्रमिक नाम जानने के साथ-साथ उनके स्वरूप का सामान्य परिज्ञान भी आवश्यक है; अत: विश्लेषणात्मक अध्ययन के पूर्व उनका सामान्य कथन अपेक्षित है।

बारह भावनाओं के क्रमानुसार नाम इसप्रकार हैं -

१. अनित्य २. अशरण ३. संसार ४. एकत्व ५. अन्यत्व ६. अशुचि ७. आस्रव ८. संवर ९. निर्जरा १०. लोक ११. बोधिदुर्लभ १२. धर्म।

संसारी जीव के मुख्यरूप से स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा और शरीर का ही संयोग है; इनमें सर्वाधिक नजदीक का संयोगी पदार्थ शरीर ही है। अनित्यभावना में इनकी अनित्यता, अशरणभावना में इनकी अशरणता तथा संसारभावना में इनकी दु:खरूपता व नि:सारता का चिन्तन किया जाता है। स्वयं में एकत्व और संयोगों से भिन्नत्व का विचार क्रमश: एकत्व और अन्यत्व भावना में होता है। संयोगों (शरीर) की मलिनता, अपवित्रता का चिन्तन ही अशुचिभावना है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त भावनाओं के चिन्तन का विषय यद्यपि संयोग ही हैं; तथापि चिन्तन की धारा का स्वरूप इसप्रकार है कि संयोगों से विरक्ति हो, अनुरक्ति नहीं। अत: ये छह भावनाएँ मुख्यरूप से वैराग्योत्पादक हैं।

आस्रव, संवर और निर्जरा तो स्पष्टरूप से तत्त्वों के नाम हैं; अत: इनका चिन्तन सहज ही तत्त्वपरक होता है। बोधिदुर्लभ और धर्मभावना में भी रत्नत्रयादि धर्मों की चर्चा होने से चिन्तन तत्त्वपरक ही रहता है। लोकभावना में लोक की रचना सम्बन्धी विस्तार को गौण करके यदि उसके स्वरूप पर विचार किया जाय, तो उसका चिन्तन भी निश्चितरूप से तत्त्वपरक ही होगा।

पण्डित दौलतरामजी कृत छहढाला में समागत लोकभावनासम्बन्धी चिन्तन इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है -

"किनहू न करौ न धरै को, षड्द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक माँहि बिन समता, दुख सहे जीव नित भ्रमता॥[१]

छहद्रव्यों का समूह है स्वरूप जिसका - ऐसा यह लोक न तो किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किये है और न कोई इसका विनाश ही कर सकता है। इसप्रकार अनादि-अनन्त स्वयंप्रतिष्ठित इस लोक में यह जीव समता के बिना भ्रमण करता हुआ अनादिकाल से ही अनन्त दु:ख उठा रहा है।"

---

१. छहढाला, पाँचवीं ढाल, छन्द १२

– यह मतार्थ की दृष्टि से किया गया तात्त्विक कथन ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं आरम्भ की छह भावनाएँ वैराग्योत्पादक एवं अन्त की छह भावनाएँ तत्त्वपरक हैं; परन्तु इसे नियम के रूप में देखना ठीक न होगा; क्योंकि यह कथन मुख्यता और गौणता की अपेक्षा से किया गया कथन ही है।

वैराग्योत्पादक चिन्तन से भावभूमि के सरल हो जाने पर – तरल हो जाने पर उसमें बोया हुआ तत्त्वचिन्तन का बीज निरर्थक नहीं जाता; उगता है, बढ़ता है, फलता भी है और अन्त में पूर्णता को भी प्राप्त होता है। कठोर-शुष्क भूमि में बोया गया बीज नाश को ही प्राप्त होता है। अत: जमीन को जोतने-सींचने के श्रम को निरर्थक नहीं माना जा सकता। आरम्भ की छह भावनाएँ मुख्यरूप से भावभूमि को जोतने एवं वैराग्यरस से सींचने का ही काम करती है; जो कि अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

बारह भावनाओं के क्रम में भेदविज्ञान का क्रमिक विकास भी दृष्टिगोचर होता है। यदि आरम्भ की छह भावनाएँ परसंयोगों की अस्थिरता, पृथक्ता एवं मलिनता का सन्देश देकर अनादिकालीन परोन्मुखता समाप्त कर अन्तरोन्मुख होने के लिए प्रेरित करती हैं तो सातवीं आस्रवभावना संयोगाधीनदृष्टि से उत्पन्न होनेवाले संयोगीभावों-मिथ्यात्वादि विकारों से विरक्ति उत्पन्न करती है; तथा संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म भावनाएँ उस निज शुद्धात्मतत्त्व के प्रति समर्पित होने का मार्ग प्रशस्त करती हैं, जिसके आश्रय से रत्नत्रयरूप संवरादि निर्मल पर्यायें उत्पन्न होती हैं।

आत्मार्थी मुमुक्षुओं के लिए बारह भावनाओं का चिन्तन कभी-कभी का नहीं, प्रतिदिन का कार्य है; अत: इस विषय पर विविध दृष्टिकोणों से हल्का-भारी सभी प्रकार का चिन्तन हुआ है। जहाँ एक ओर एक छन्द में बारह भावनाओं का चिन्तन प्रस्तुत कर दिया गया है तो दूसरी ओर इनके प्रतिपादन में पूरे ग्रन्थ लिख दिये गये हैं।

आध्यात्मिक कविवर पण्डित भागचन्दजी ने एक छन्द में बारह भावनाओं का स्वरूप इसप्रकार प्रस्तुत किया है -

"जग है अनित्य तामैं सरन न वस्तु कोय;
तातैं दुःखरासि भववास कौं निहारिए।
एक चित् चिह्न सदा भिन्न परद्रव्यनि तैं;
अशुचि शरीर में न आपाबुद्धि धारिए॥
रागादिक भाव करै कर्म को बढ़ावै तातैं;
संवरस्वरूप होय कर्मबन्ध डारिए।
तीनलोक माँहिं जिनधर्म एक दुर्लभ है;
तातैं जिनधर्म को न छिनहू विसारिए॥"

उक्त छन्द पर एक गहरी दृष्टि डालने पर स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि इसमें बारह भावनाओं के चिन्तन की मूलधारा पूर्णतः समाहित है।

बारह भावनाओं में समाहित चिन्तनप्रक्रिया में जो क्रमिक विकास दिखाई देता है; उसमें रंचमात्र भी कृत्रिमता नहीं है।

पुत्र-परिवार, कंचन-कामिनी एवं देह में रत जगत को इन संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता, असारता आदि के परिज्ञान की हेतुभूत बारह भावनाओं की चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है।

अनित्यभावना में यह बताया जाता है कि जिन संयोगों में तू सदा रहना चाहता है; वे क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं। पुत्र-परिवार और कंचन-कामिनी तेरे साथ सदा रहनेवाले नहीं; या तो ये तुझे छोड़कर चल देंगे या फिर तू ही जब मरण को प्राप्त होगा, तब ये सब सहज ही छूट जावेंगे।

- इस बात को सुनकर यह रागी प्राणी इनकी सुरक्षा के अनेक उपाय करता है। जब यह अपने मरणादि को टालने के उपायों का विचार करता है, तब अशरणभावना में यह बताया जाता है कि वियोग होना संयोगों का सहज

स्वभाव है, उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है। कोई ऐसी दवा नहीं, मणि-मन्त्र-तन्त्र नहीं; जो तुझे या तेरे पुत्रादि को मरने से बचा लें।

तब यह सोच सकता है कि न सही ये संयोग, दूसरे संयोग तो मिलेंगे ही; तब इसे संसारभावना के माध्यम से समझाते हैं कि संयोगों में कहीं भी सुख नहीं है, सभी संयोग दु:खरूप ही हैं। तब यह सोच सकता है कि मिल-जुलकर सब भोग लेंगे, उसके उत्तर में एकत्वभावना में दृढ़ किया जाता है कि दु:ख मिल-बाँटकर नहीं भोगे जा सकते, अकेले ही भोगने होंगे। इसी बात को नास्ति से अन्यत्वभावना में दृढ़ किया जाता है कि कोई साथ नहीं दे सकता। जब यह शरीर ही साथ नहीं देता तो स्त्री-पुत्रादि परिवार तो क्या साथ देंगे?

अशुचिभावना में कहते हैं कि जिस देह से तू राग करता है; वह देह अत्यन्त मलिन है, मल-मूत्र का घर है।

इसप्रकार आरम्भ की छह भावनाओं में संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न किया जाता है; जिससे यह आत्मा आत्महितकारी तत्त्वों को समझने के लिए तैयार होता है। इन भावनाओं में देहादि परपदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराके भेदविज्ञान की प्रथम सीढ़ी भी पार करा दी जाती है।

जब यह आत्मा शरीरादि परपदार्थों से विरक्त होकर गुण-पर्यायरूप निजद्रव्य की सीमा में आ जाता है, तब आस्रवभावना में आत्मा में उत्पन्न मिथ्यात्वादि कषायभावों का स्वरूप समझाते हैं। यह बताते हैं कि ये आस्रवभाव दु:खरूप हैं, दु:ख के कारण हैं, मलिन हैं; और भगवान आत्मा सुखस्वरूप है, सुख का कारण है एवं अत्यन्त पवित्र है।

इसप्रकार आस्रवों से भी दृष्टि हटाकर संवर-निर्जराभावना में अतीन्द्रिय आनन्दमय संवर-निर्जरा तत्त्वों का परिज्ञान कराते हैं, उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं। फिर लोकभावना में लोक का स्वरूप बताकर बोधिदुर्लभभावना में यह बताते हैं कि इस लोक में एक रत्नत्रय ही दुर्लभ है; और सब संयोग तो अनन्तबार प्राप्त हुए, पर रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हुई; यदि हुई होती तो संसार

से पार हो गये होते। अन्त में धर्मभावना में यह बताते हैं कि अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना ही इस मनुष्यभव का सार है। मनुष्यभव की सार्थकता एकमात्र त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म का प्राप्ति में ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि बारह भावनाओं की यह चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है, आश्चर्यकारी है; क्योंकि इनमें संसार, शरीर और भोगों में लिप्त जगत को अनन्तसुखकारी मार्ग में प्रतिष्ठित करने का सम्यक् प्रयोग है, सफल प्रयोग है। यही कारण है कि बारह भावनाओं का चिन्तन आत्मार्थी समाज का सर्वाधिक प्रिय मानसिक दैनिक भोजन है।

यद्यपि इन बारह भावनाओं का चिन्तन ज्ञानी-अज्ञानी सभी के लिए समानरूप से हितकारी है, तथापि इनका सम्यक् स्वरूप न जान पाने के कारण अज्ञानीजन लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक उठाया करते हैं। पहले शरीरादि संयोगों को भला जानकर उनसे अनन्त अनुराग करते थे; पर जब बारह भावनाओं में निरूपित शरीरादि संयोगों की अनित्यता; अशरणता, असारता, अशुचिता आदि दोषों को जान लेते हैं तो उनसे द्वेष करने लगते हैं। बारह भावनाओं के चिन्तन का सच्चा फल तो वीतरागता है, उसकी प्राप्ति उन्हें नहीं हो पाती है।

इस सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

"अनित्यादि चिंतवन से शरीरादि को बुरा जान, हितकारी न जान कर उनसे उदास होना; उसका नाम अनुप्रेक्षा (अज्ञानी) कहता है। सो यह तो जैसे कोई मित्र था, तब उससे राग था और पश्चात् उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ। उसीप्रकार शरीरादिक से राग था, पश्चात् अनित्यादि अवगुण अवलोक कर उदासीन हुआ, परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है।

अपना और शरीरादिक का जहाँ-जैसा स्वभाव है, वैसा पहिचान कर, भ्रम को मिटाकर, भला जानकर राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करना- ऐसी सच्ची उदासीनता के अर्थ यथार्थ अनित्यत्वादिक का चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।[१]"

सभी प्राणी बारह भावनाओं का सच्चा स्वरूप समझकर अपना आत्महित करें - इसके लिए प्रत्येक भावना का विस्तृत अनुशीलन आवश्यक है, अपेक्षित है। अत: स्व-पर हित के लिए बारह भावनाओं के पृथक्-पृथक् अनुशीलन के संकल्प के साथ विराम लेता हूँ। ●

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२९

ज्ञानी और अज्ञानी

णमोकार मन्त्र पढ़ने से कभी किसी धर्मात्मा की रक्षा करने देवता आ गये थे - यह पौराणिक आख्यान सत्य हो सकता है, इसमें शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है; पर इससे यह नियम कहाँ से सिद्ध होता है कि जब-जब कोई संकट में पड़ेगा और वह णमोकार मन्त्र बोलेगा, तब-तब देवता आयेंगे ही, अतिशय होगा ही।

शास्त्रों में तो मात्र जो घटा था, उस घटना का उल्लेख है। उसमें यह कहाँ लिखा है कि ऐसा करने से ऐसा होता ही है? यह तो इसने अपनी ओर से समझ लिया है, अपनी इस समझ पर भी इसको विश्वास कहाँ है? होता तो आकुलित क्यों होता, भयाक्रान्त क्यों होता?

ज्ञानी भी णमोकार मन्त्र पढ़ रहा है, शान्त भी है; पर उसकी शान्ति का आधार णमोकार मन्त्र पर यह भरोसा नहीं कि हमें बचाने कोई देवता आवेंगे। णमोकार मन्त्र तो वह सहज ही अशुभभाव से तथा आकुलता से बचने के लिए बोलता है।

- क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ १००

अनित्यभावना

भोर की स्वर्णिम छटा सम क्षणिक सब संयोग हैं।
पद्मपत्रों पर पड़े जलबिन्दु सम सब भोग हैं॥
सान्ध्य दिनकर लालिमा सम लालिमा है भाल की।
सब पर पड़ी मनहूस छाया विकट काल कराल की॥१॥

सम्पूर्ण संयोग सूर्योदयकालीन स्वर्णिम छटा के समान क्षणभंगुर हैं। इसीप्रकार पुण्योदय से प्राप्त भोग भी कमल के पत्तों पर पड़े हुए जलबिन्दुओं के समान क्षणभंगुर ही हैं। भाग्यशाली ललाट की लालिमा भी सायंकालीन सूर्य की लालिमा के समान अल्पकाल में ही कालिमा में बदल जानेवाली है; क्योंकि सभी संयोगों पर, भोगों पर, पर्यायों पर विकराल काल की विकट मनहूस छाया पड़ी हुई है।

अंजुली-जल सम जवानी क्षीण होती जा रही।
प्रत्येक पल जर्जर जरा नजदीक आती जा रही॥
काल की काली घटा प्रत्येक क्षण मँडरा रही।
किन्तु पल-पल विषय-तृष्णा तरुण होती जा रही॥२॥

यह उन्मत्त यौवन अंजुली के जल के समान प्रतिपल क्षीण होता जा रहा है और देह को जर्जर कर देनेवाला बुढ़ापा निरन्तर नजदीक आता जा रहा है। मृत्यु की काली घटाएं प्रत्येक क्षण शिर पर मँडरा रही है, फिर भी पंचेन्द्रिय विषयों की तृष्णा निरन्तर बढ़ती जा रही है, जवान होती जा रही है।

दुखमयी पर्याय क्षणभंगुर सदा कैसे रहे।
अमर है ध्रुव आतमा वह मृत्यु को कैसे वरे॥
ध्रुवधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥३॥

यह दु:खमयी पर्याय क्षणभंगुर है; अत: सदा कैसे रह सकती है और ध्रुवस्वभावी अमर आत्मा मृत्यु का वरण कैसे कर सकता है? न तो यह दु:खमय पर्याय ही सदा रहनेवाली है और न अमर आत्मा कभी मरनेवाला ही है। ध्रुवधाम आत्मा से विमुख पर्याय ही वस्तुत: संसार है और ध्रुवधाम आत्मा की आराधना ही आराधना का सार है।

संयोग क्षणभंगुर सभी पर आतमा ध्रुवधाम है।
पर्याय लयधर्मा परन्तु द्रव्य शाश्वत धाम है॥
इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥४॥

संयोग क्षणभंगुर है और आत्मा त्रिकाली ध्रुवधाम है; पर्याय नाशवान है और आत्मा शाश्वत रहनेवाला है। इस सत्य को पहिचान लेना ही अनित्यभावना का सार है और त्रिकाली ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना ही वास्तविक आराधना है, आराधना का सार है।

भवताप का अभाव

भवताप का अभाव तो स्वयं के आत्मा के दर्शन से होता है। दूसरों के दर्शन से आज तक कोई भवमुक्त नहीं हुआ और न कभी होगा। भवतापहारी तो पर और पर्याय से भिन्न निज परमात्मतत्त्व ही है। उसके दर्शन का नाम ही सम्यग्दर्शन है, उसके परिज्ञान का नाम ही सम्यग्ज्ञान है और उसका ध्यान ही सम्यक् चारित्र है। अत: उसका जानना, मानना और ध्यान करना ही भव का अभाव करने वाला है।

- आप कुछ भी कहो, पृष्ठ १४

अनित्यभावना : एक अनुशीलन

संयोग क्षणभंगुर सभी पर आतमा ध्रुवधाम है।
पर्याय लयधर्मा परन्तु द्रव्य शाश्वत धाम है॥
इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥

प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही नित्यानित्यात्मक है। नित्यानित्यात्मक वस्तु का असंयोगी द्रव्यांश नित्य एवं संयोगी पर्यायांश अनित्य होता है। अनित्यभावना में संयोगी पर्यायांश के सम्बन्ध में ही चिन्तन किया जाता है। पर्यायों के सर्वाङ्गस्वरूप पर विवेचनात्मक चिन्तन या विश्लेषणात्मक विचार करना अनित्यभावना नहीं है; अपितु पर्यायों की अस्थिरता, क्षणभंगुरता का वैराग्यपरक चिन्तन ही अनित्यभावना का मुख्य अभीष्ट है; क्योंकि आत्महित के लिए संयोगी पर्यायों पर दृष्टि केन्द्रित करना उपयोगी नहीं; अपितु उन पर से दृष्टि हटाना आवश्यक है, दृष्टि को पर्यायों पर से हटाकर स्वभावसन्मुख करना आवश्यक है।

पर और पर्यायों से पृथक् द्रव्यस्वभाव का परिज्ञान न होने से अनादिकाल से इस आत्मा ने पर और पर्यायों में ही एकत्व स्थापित कर रखा है, ममत्व कर रखा है, उन्हीं को सर्वस्व मान रखा है, उन्हीं पर दृष्टि केन्द्रित कर रखी है; परिणामस्वरूप अनन्तदु:खी है। दु:ख दूर करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने पर भी दु:ख दूर नहीं होते; क्योंकि इसका पुरुषार्थ ही उल्टी दिशा में गतिशील रहता है।

जिन संयोगों या पर्यायों में इसने अपनत्व और ममत्व स्थापित कर रखा है, उन्हें यह स्थाई रखना चाहता है; उसी दिशा में सतत प्रयत्नशील भी रहता

है; किन्तु वे तो स्वभाव से ही क्षणभंगुर हैं, विनाशीक हैं; अत: उनका स्थाई रहना तो असंभव ही है। यही कारण है कि उसका यह प्रयत्न बालू में से तेल निकालने जैसा ही निरर्थक सिद्ध होता है। श्रम से थकावट एवं बार-बार असफलता से खिन्नता बढ़ती है; परिणामस्वरूप निरन्तर आकुलता-व्याकुलता बढ़ती ही रहती है। अनन्त असफलताओं के बावजूद भी यह अज्ञानी आत्मा उसी दिशा में प्रयत्नशील रहता है; क्योंकि सुखप्राप्ति का सच्चा मार्ग तो प्राप्त हुआ नहीं और दु:ख भी सहा जाता नहीं; अत: जो भी सूझता है, वही करता रहता है।

यह सम्पूर्ण स्थिति संयोगों व पर्यायों के परिणमनशील स्वभाव के सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान न होने से ही बन रही है; अत: अनित्यभावना में संयोगों व पर्यायों की अनित्यता-क्षणभंगुरता का चिन्तन किया जाता है।

इस संदर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

"तथा इस संसारी के एक यह उपाय है कि स्वयं को जैसा श्रद्धान है; उसी प्रकार पदार्थों को परिणमित करना चाहता है। यदि वे परिणमित हों तो इसका श्रद्धान सच्चा हो जाये; परन्तु अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होतीं। उन्हें परिणमित कराना चाहे, वह कोई उपाय नहीं है, वह तो मिथ्यादर्शन ही है।

तो सच्चा उपाय क्या है? जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान हो जाय तो सर्व दु:ख दूर हो जाये। जिसप्रकार कोई मोहित होकर मुर्दे को जीवित माने या जिलाना चाहे तो आप ही दु:खी होता है। तथा उसे मुर्दा मानना और यह जिलाने से जियेगा नहीं - ऐसा मानना सो ही उस दु:ख के दूर होने का उपाय है। उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा माने, अन्यथा परिणमित करना चाहे तो आप ही दु:खी होता है। तथा उन्हें यथार्थ मानना और यह परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगे - ऐसा मानना सो ही

उस दु:ख के दूर होने का उपाय है। भ्रमजनित दु:ख का उपाय भ्रम दूर करना ही है। सो भ्रम दूर होने से सम्यक् श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना।[१]"

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि अनित्यभावना का चिन्तन तो मुख्यरूप से सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों को होता है, मुनिराजों के भी होता है; तो क्या वे भी संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता से अनजान होते हैं?

नहीं; वे संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता से भली-भाँति परिचित होते हैं। अज्ञानजन्य आकुलता-व्याकुलता तो अज्ञानियों को ही होती है, सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों को नहीं; किन्तु पूर्ण वीतरागता के अभाव में देव-शास्त्र-गुरु, शिष्य, माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि व देहादि संयोगों तथा शुभराग, विशिष्ट क्षयोपशमज्ञानादि पर्यायों में रागात्मक विकल्प यथासम्भव भूमिकानुसार सम्यग्ज्ञानियों के भी पाये जाते हैं, इष्ट संयोगों के वियोग में उनका भी चित्त अस्थिर हो जाता है। चित्त की स्थिरता के लिए वे भी संयोगों व पर्यायों की क्षणभंगुरता का बार-बार विचार करते हैं, चिन्तन करते हैं। उनका यह चिन्तन आम्नायस्वाध्यायरूप ही समझना चाहिए।

चारित्रमोह के तीव्र उदय में रामचन्द्रजी जैसे सम्यग्दृष्टि धीर-वीर महापुरुष का चित्त भी आकुल-व्याकुल हो उठा था। लक्ष्मण की मृत देह को भी छह माह तक ढोते रहना तथा सीता के वियोग में पशु-पक्षियों एवं वृक्ष-लताओं से भी समाचार पूछते फिरना क्या साधारण व्याकुलता का परिणाम हो सकता है? फिर भी वह आकुलता अज्ञानजन्य नहीं थी, रागजन्य ही थी।

अज्ञानजन्य व्याकुलता दूर करने के साथ-साथ राग-द्वेषजन्य व्याकुलता दूर करने के लिए भी संयोगों और पर्यायों की अस्थिरता-क्षणभंगुरता का चिन्तन निरन्तर आवश्यक है। यही कारण है कि अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन ज्ञानी-अज्ञानी, संयमी-असंयमियों - सभी को उपयोगी है, आवश्यक है, सुखकर है, शान्तिदायक है, परम अमृत है।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५२

गौतमबुद्ध के पास कोई वृद्ध महिला अपने इकलौते मृत पुत्र को लेकर पहुँची। उनसे उसे जीवित कर देने का आग्रह करने लगी, अनुरोध करने लगी, विलख-विलख कर रोते हुए प्रार्थना करने लगी।

बहुत समझाने पर भी जब उसने अपना आग्रह नहीं छोड़ा तो महात्मा बुद्ध ने उससे कहा -

"उस घर से एक मुट्ठी तिल लेकर आओ, जिस घर में आज तक किसी की मृत्यु न हुई हो।"

उस घर की तलाश में अविवेकी वृद्धा बिना विचारे ही दौड़ पड़ी; पर घर-घर चक्कर काटने पर भी उसे ऐसा कोई घर न मिला, जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो। मिलता भी कैसे; क्योंकि जगत में ऐसा घर होना संभव ही नहीं है। संसरण (परिवर्तन) का नाम ही तो संसार है। जगत का स्वरूप ही परिवर्तनशील है।

अन्ततोगत्वा थककर वह पुनः बुद्ध के पास पहुँची और अपनी असफलता बताई तो बुद्ध कहने लगे -

"मृत्यु एक अनिवार्य तथ्य है, उसे किसी भी प्रकार टाला नहीं जा सकता। उसे सहज भाव में स्वीकार कर लेने में ही शान्ति है, आनन्द है। सत्य को स्वीकार करना ही सन्मार्ग है।"

अनित्यभावना में भी वस्तु के इसी पक्ष को उभारा जाता है, इसी सत्य से परिचित कराया जाता है, इसी तथ्य को अनेक युक्तियों से उजागर किया जाता है, उदाहरणों से समझाया जाता है।

"राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार॥[१]"

अनित्यभावना सम्बन्धी उक्त छन्द में भी इसी तथ्य को उजागर किया गया है।

---

१. पंडित भूधरदासजी कृत बारह भावना

ध्यान रखने की बात यह है कि इस छन्द में तो असमानजातीय पर्यायरूप एकक्षेत्रावगाही शरीर की नश्वरता का ही भान कराया गया है; पर पं. दौलतरामजी ने तो इस सीमा को और भी विस्तृत कर दिया है। वे लिखते हैं -

"जोवन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ॥[१]

जवानी, घर, गाय-भैंस, स्त्री, घोड़ा, हाथी, आज्ञाकारी सेवक, इन्द्रियों के भोग - ये सभी वस्तुएँ बिजली के समान चंचल और इन्द्रधनुष के समान क्षणस्थाई हैं।"

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि -

"जं किंचिवि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ नियमेण।
परिणामसरूवेण वि ण य किंचि वि सासयं अत्थि ॥
जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जोवणं जरा सहियं।
लच्छी विणास सहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥[२]

जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, उसका नियम से नाश होगा; क्योंकि परिणामस्वरूप से तो कुछ भी नित्य नहीं है। जन्म मरण से, यौवन बुढ़ापे से एवं लक्ष्मी विनाश से सहित ही उत्पन्न होती है। इसप्रकार सभी वस्तुओं को क्षणभंगुर जानो।"

अनित्यभावनासम्बन्धी उक्त कथनों में यद्यपि संयोगी पदार्थों एवं पर्यायों की क्षणभंगुरता का ही ज्ञान कराया गया है; तथापि प्रयोजन उनसे विरक्ति उत्पन्न करना है, दृष्टि को वहाँ से हटाकर स्वभावसन्मुख ले जाना है। यही कारण है कि अनित्यभावना में जहाँ एक ओर पर्यायों की अनित्यता की चर्चा की जाती है तो दूसरी ओर द्रव्यस्वभाव की नित्यता का ज्ञान भी कराया जाता है।

---

१. छहढाला; पंचम ढाल, छन्द ३
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४ व ५

इस दृष्टि से अनित्यभावना सम्बन्धी निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य हैं -

द्रव्यरूप करि सर्व थिर, परजय थिर है कौन ?
द्रव्यदृष्टि आपा लखो, परजय नय करि गौन ॥[१]

द्रव्यदृष्टि से वस्तु थिर, पर्यय अथिर निहार।
तासे योग-वियोग में, हर्ष-विषाद निवार ॥[२]

उक्त छन्दों में वस्तु के द्रव्यांश और पर्यायांश - दोनों की ही चर्चा की गई है। इसमें बताया गया है कि द्रव्यदृष्टि से सभी वस्तुएँ स्थिर हैं और पर्यायदृष्टि से कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है।

यद्यपि दोनों ही छन्दों की वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली प्रथम पंक्तियों में एक ही बात कही गई है; तथापि प्रेरणा देनेवाली द्वितीय पंक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रेरणा दी गई है। प्रथम छन्द में क्षणस्थाई पर्याय की अनित्यता को गौण करके नित्य स्थाई निज शुद्धात्मद्रव्य पर दृष्टि केन्द्रित करने की प्रेरणा दी गई है और दूसरे छन्द में पर्यायों के संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद नहीं करने की बात कही गई है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनित्यभावना की चिन्तनप्रक्रिया का मूल प्रयोजन इष्ट-अनिष्ट पर्यायों के संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद न करके समताभाव धारण करने के लिए दृष्टि को पर और पर्यायों पर से हटाकर द्रव्यस्वभाव पर केन्द्रित करना है; क्योंकि समताभाव की प्राप्ति का एकमात्र उपाय वृत्ति का स्वभावसन्मुख होना ही है।

अनित्यभावना सम्बन्धी चिन्तन करते हुए भी यदि समताभाव जागृत नहीं होता है तो समझना चाहिए कि हमारी तत्ससम्बन्धी चिन्तनप्रक्रिया सम्यक् नहीं है, कहीं कोई गड़बड़ी अवश्य है। अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन करते समय जैसा साम्यभाव हमारी मुखमुद्रा एवं हाव-भावों में परिलक्षित होना चाहिए,

---

१. पण्डित जयचन्दजी छावड़ा कृत बारह भावना
२. पण्डित दीपचन्दजी कृत बारह भावना

वैसा बहुत कम देखने में आता है; अपितु चिन्तित चित्त एवं विचलित मुखमुद्रा यही बताते हैं कि संयोगों के अनिवार्य वियोग एवं पर्यायों के सुनिश्चित प्रलय के चिन्तन से हम और अधिक आकुल-व्याकुल हो उठे हैं।

जब अनित्यता आत्मवस्तु का पर्यायगत स्वभाव है तो वह दु:खकर कैसे हो सकती है। तत्सम्बन्धी विचार-चिन्तन भी आकुलता का उत्पादक नहीं हो सकता। यदि स्वभाव और उसका चिन्तन-विचार भी आकुलता उत्पन्न करेंगे तो फिर सुख और शान्ति का कोई उपाय ही शेष न रहेगा; क्योंकि सुख और शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय तो वस्तुस्वभाव का सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान ही है।

वस्तुत: बात यह है कि पर्यायगत स्वभाव के चिन्तन की दिशा और प्रक्रिया सम्यक् न होने से ही यह सब गड़बड़ी होती है; अत: इस दिशा में विस्तृत दिशाबोध की अत्यन्त आवश्यकता है।

पर्यायों की परिवर्तनशीलता वस्तु का पर्यायगत स्वभाव होने से आत्मार्थी के लिए हितकर ही है; क्योंकि यदि पर्यायें परिवर्तनशील नहीं होतीं तो फिर संसारपर्याय का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रकट होने के लिए अवकाश भी नहीं रहता। अनन्तसुखरूप मोक्ष-अवस्था सर्वसंयोगों के अभावरूप ही होती है। यदि संयोग अस्थाई न होकर स्थाई होते तो फिर मोक्ष कैसे होता? अत: संयोगों की विनाशीकता भी आत्मा के हित में ही है।

परिवर्तन का स्वरूप भी तो हमारे पक्ष में ही है। अनन्तदु:खरूपसंसार का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप मोक्ष तो प्रकट होता है; पर मोक्ष का अभाव होकर फिर संसार-अवस्था प्रकट नहीं होती। अनन्तदु:ख विनाशीक है और अनन्तसुख अविनाशी हैं। - इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी?

पर्यायों और संयोगों को स्थिर रखने का विकल्प निरर्थक तो है ही, अविचारितरमणीय भी है। यदि लौकिकदृष्टि से विचार करें, तब भी मृत्यु एक शास्वत सत्य है, जबकि अमरता एक काल्पनिक उड़ान के अतिरिक्त कुछ नहीं

है; क्योंकि भूतकाल में हुए अगणित वीरों में से आज कोई भी तो दिखाई नहीं देता। यदि किसी को सशरीर अमरता प्राप्त हुई होती तो वे आज हमारे बीच अवश्य होते। कहा भी है -

कहाँ गये चक्री जिन जीता भरतखण्ड सारा,
कहाँ गये वे राम रु लछमन जिन रावण मारा।
कहाँ कृष्ण रुक्मणि सतभामा अरु संपति सगरी,
कहाँ गये वे रंगमहल अरु सुवरन की नगरी॥
नहीं रहे वे लोभी कौरव जूझ मरे रन में,
गये राज तज पाण्डव वन को अग्नि लगी तन में।
मोहनींद से उठ रे चेतन तुझे जगावन को,
हो दयाल उपदेश करें गुरु बारह भावन को॥[१]

जिनके वियोग की कल्पना में आप इतने आकुल-व्याकुल हो रहे हैं, सुखी होने के लिए जिन्हें आप अमर बनाना चाहते हैं; उन संयोगों और पर्यायों के अमर हो जाने पर आपको किन-किन समस्याओं का सामना करना होगा-कभी इसका भी विचार किया है आपने ?

नहीं; तो जरा कल्पना कीजिए कि आप स्वयं सशरीर अमर हो गये हैं। अब आपकी मृत्यु कभी भी नहीं होगी। आपके सामने ही आपके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि अनेक पीढ़ियाँ पैदा होंगी और काल-गाल में समाती जावेंगी और आपको अपनी आँखों से यह सब देखते रहना होगा। साथी-संगी, मित्र आदि सभी चले जावेंगे, पत्नी भी। सब कुछ नया होगा, मात्र आप ही एक प्राचीनतम पुरातत्वीय चेतन सामग्री के रूप में उपलब्ध रहेंगे। चिड़ियाघर में न सही, किसी मन्दिर में ही सही; पर आपको अद्भुत अलभ्य दर्शनीय वस्तु बनकर रहना होगा। - ऐसा अमरता की आपने कल्पना भी न की होगी, पर आप ही बताइये कि इससे अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

---

१. कविवर मंगतरामजी कृत बारह भावना, छन्द १

शायद आपको यह अमरता पसन्द न आवे और आप मरना चाहें, पर ध्यान रहे अमर लोग मरते नहीं है; अब तो अनन्तकाल तक आपको इसीप्रकार रहना होगा।

आप यह भी सोच सकते हैं कि हम ही क्यों, हमारे सभी साथी, इष्ट-मित्र, पुत्र-परिवार सभी अमर होंगे, फिर तो अकेलापन नहीं खटकेगा और न पुत्र-परिवार को अपनी आँखों से मरता ही देखना होगा; सब-कुछ आज जैसा ही रहेगा। पर यदि ऐसा हुआ तो समस्या और भी अधिक उलझ जायेगी; क्योंकि फिर कोई मरेगा नहीं - यह बात तो ठीक, पर उत्पादन तो चालू रहेगा ही; क्योंकि आपकी कल्पना अमरता की है, अजन्मा की नहीं। इस स्थिति में भीड़ बढ़ती ही जावेगी। जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि के इस युग में इसकी भयावहता पर प्रकाश डालने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

यदि आप कहें कि हम अमरता के समान अजन्मा की कल्पना भी करेंगे। यद्यपि आप अपने कल्पनालोक में विचरने के लिए पूर्ण स्वतंत्र हैं, तथापि इससे भी कोई समाधान निकलनेवाला नहीं है; क्योंकि फिर तो सब यों का यों ही थम जायगा, विकास एकदम अवरुद्ध हो जावेगा। जरा और पीछे को चलें तो यदि आपके बाप-दादों ने ऐसी अमरता प्राप्त कर ली होती तो आपके आने की सम्भावना ही नहीं रहती।

वस्तुस्वरूप के विरुद्ध कल्पनालोक में विचरण करने पर बहुत दूर जाकर भी कुछ हाथ लगनेवाला नहीं है, सुख-शान्ति प्राप्त होनेवाली नहीं है; अत: भला इसी में है कि हम पर्यायों की नश्वरता को सही रूप में समझें, उसे सहजभाव से स्वीकार करें। सुख-शान्ति प्राप्त करने का एक मात्र यही उपाय है।

संयोगों और पर्यायों की अनित्यता को जब हम अपनी मिथ्या मान्यताओं और राग-द्वेष के चश्मे से देखते हैं तो वह दु:खकर प्रतीत होती है, यदि सम्यग्ज्ञान के आलोक में देखें तो वस्तु का स्वभाव होने से शान्ति और

सुखोत्पादक ही प्रतीत होंगी। दोष हमारी दृष्टि में है और उसे हम खोज रहे हैं लोक में। षट्द्रव्यरूपी लोक तो अपने परिणमनस्वभाव में पूर्ण व्यवस्थित है; अत: परिवर्तन लोक में नहीं, अपनी दृष्टि में करना है; किन्तु जगतजन जगत को अपने राग-द्वेषात्मक दृष्टिकोण से देखते हैं और तदनुसार ही उसे परिणमित करना चाहते हैं। उल्टी गंगा बहाने के इस दुष्प्रयत्न में हमने अनन्तकाल बिताया है और अनन्त दु:ख भी उठाये हैं।

अब समय आ गया है कि हम वस्तु के परिणमनस्वभाव को सहजभाव से स्वीकार करें; संयोगों की क्षणभंगुरता का आपत्ति के रूप में नहीं, सम्पत्ति के रूप में प्रसन्नचित्त से स्वागत करें; संयोग-वियोगों में सहज समताभाव रखें, संयोगों को मिलाने-हटाने के निरर्थक विकल्पों से यथासंभव विरत रहें; अपनी दृष्टि को परिणमनशील संयोगों और पर्यायों से हटाकर अपरिणामी द्रव्यस्वभाव की ओर ले जावें; क्योंकि अनित्यभावना के सम्यक् चिन्तन का यही सुपरिणाम है।

सभी आत्मार्थीजन जगत की क्षणभंगुरता को पहिचानकर स्वभावसन्मुख हों - इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

आत्मानुभूति क्या है?

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसी समय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ आता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है, सबकुछ एक साथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एकनाम आत्मानुभूति है।

- आत्मा ही शरण है, पृष्ठ २२१

अशरणभावना

छिद्रमय हो नाव डगमग चल रही मझधार में।
दुर्भाग्य से जो पड़ गई दुर्दैव के अधिकार में॥
तब शरण होगा कौन जब नाविक डुबा दे धार में।
संयोग सब अशरण शरण कोई नहीं संसार में॥१॥

एक तो छेदवाली नाव हो, मझधार में बह रही हो और वह भी दुर्भाग्य से दुर्दैव के अधिकार में पड़ गई हो; तथा जब नाविक ही उसे मँझधार में डुबाने को तैयार हो तो फिर उसे कौन बचा सकता है? अत: यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सभी संयोग अशरण हैं, इस संसार में कोई भी शरण नहीं है।

जिन्दगी इक पल कभी कोई बढ़ा नहीं पायगा।
रस रसायन सुत सुभट कोई बचा नहीं पायगा॥
सत्यार्थ है बस बात यह कुछ भी कहो व्यवहार में।
जीवन-मरण अशरण शरण कोई नहीं संसार में॥२॥

यह जीवन जबतक है, तबतक ही है; इसका एक पल भी कोई बढ़ा नहीं सकता; जब मौत आ जायगी तो न तो रस-रसायन ही बचा पायेंगे और न सुत (पुत्र), न सुभट अथवा न सुभट-सुत। व्यवहार से कुछ भी कहो, पर सत्य बात तो यही है कि जीवन-मरण अशरण है, संसार में कोई भी शरण नहीं है।

निज आत्मा निश्चय-शरण व्यवहार से परमातमा।
जो खोजता पर की शरण वह आतमा बहिरातमा॥
ध्रुवधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥३॥

निश्चय से विचार करो तो एक अपना आत्मा ही शरण है, पर व्यवहार से पंचपरमेष्ठी को भी शरण कहा जाता है। इन्हें छोड़कर जो अन्य की शरण खोजता है, अन्य की शरण में जाता है; वह आत्मा बहिरात्मा है, मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। ध्रुवधाम से विमुख पर्याय ही वस्तुतः संसार है और ध्रुवधाम की आराधना ही आराधना का सार है।

संयोग हैं अशरण सभी निज आतमा ध्रुवधाम है।
पर्याय व्ययधर्मा परन्तु द्रव्य शाश्वत धाम है॥
इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥४॥

सभी संयोग अशरण हैं और ध्रुवधाम निज आत्मा ही परमशरण है। पर्याय का स्वभाव ही नाशवान है, किन्तु द्रव्य अविनाशी है। इस सत्य को पहिचानना ही अशरणभावना का सार है और ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना ही वास्तविक आराधना है, आराधना का सार है।

देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा को जानो

णविएहिं जं णविज्जई झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुत्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह॥

– मोक्षपाहुड़, गाथा १०३

हे भव्यजीवों! जिनको सारी दुनिया नमस्कार करती है, वे भी जिनको नमस्कार करें; जिनकी सारी दुनिया स्तुति करती है, वे भी जिनकी स्तुति करें एवं जिनका सारी दुनिया ध्यान करती है, वे भी जिनका ध्यान करें – ऐसे इस देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा को जानो।

अशरणभावना : एक अनुशीलन

जिन्दगी इक पल कभी कोई बढ़ा नहीं पायगा।
रस रसायन सुत सुभट कोई बचा नहीं पायगा॥
सत्यार्थ है बस बात यह कुछ भी कहो व्यवहार में।
जीवन-मरण अशरण शरण कोई नहीं संसार में॥

"सभी प्रकार के संयोग और पर्यायें अध्रुव हैं, अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं; तथा द्रव्यस्वभाव ध्रुव है, नित्य है, चिरस्थाई है; अतः भला इसी में है कि हम इस शाश्वत सत्य को सहजभाव से स्वीकार कर लें तथा पर और पर्यायों से दृष्टि हटाकर स्वभावसन्मुख हों।"

- यद्यपि इसप्रकार के चिन्तन के माध्यम से अनित्यभावना में दृष्टि को पर और पर्यायों से हटाकर स्वभावसन्मुख होने के लिए भरपूर प्रेरणा दी जाती है; तथापि अज्ञानी को अज्ञानवश तथा कदाचित् ज्ञानी को भी रागवश संयोगों और पर्यायों को स्थिर करने की विकल्पतरंगें उठा ही करती हैं। उन निरर्थक विकल्पतरंगों के शमन के लिए ही अशरणभावना का चिन्तन किया जाता है।

अशरणभावना में अनेक युक्तियों और उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट किया जाता है कि यथासमय स्वयं विघटित होनेवाले संयोगों एवं पर्यायों की सुरक्षा सम्भव नहीं है, उनका विघटन अनिवार्य है; क्योंकि उनकी यह सहज परिणति ही है।

संयोगों और पर्यायों की सुरक्षा में किए गये अगणित प्रयत्नों में से आज तक किसी का एक भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ है और न कभी भविष्य में भी सफल होगा; अतः इन निरर्थक प्रयासों में उलझना ठीक नहीं है।

संयोगी पदार्थों में शरीर एक ऐसा संयोगी पदार्थ है, जिसकी सुरक्षा सम्बन्धी विकल्पतरंगें चित्त को सर्वाधिक आन्दोलित करती हैं। इस नश्वर देह

की सुरक्षा के विकल्प में प्राणी क्या-क्या नहीं करते? अनेक प्रकार की औषधियों का सेवन करते हैं, कुदेवों की आराधना करते हैं, मंत्रों की साधना करते हैं, तंत्रों का प्रयोग करते हैं, सुदृढ़ गढ़ बनवाते हैं, चिकित्सकों की शरण में जाते हैं, मांत्रिकों-तांत्रिकों के चक्कर काटते हैं, चतुरंगी सेना तैयार करवाते हैं; पर जब काल आ जाता है तो ये सब-कुछ काम नहीं आते। अन्ततोगत्वा इस नश्वर देह को छोड़ना ही पड़ता है।

देह का वियोग ही मरण है, वह अनिवार्य है; क्योंकि कोई शरण नहीं है। बस, यही अशरण है; इसका चिन्तन ही मुख्यत: अशरण भावना है। जैसाकि निम्नांकित छन्दों से स्पष्ट है -

"दल-बल देई-देवता, मात-पिता परिवार।
मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखनहार॥[१]

इस जीव को मरणकाल आ जाने पर सेना की शक्ति, देवी-देवता, माता-पिता और परिवारजन कोई भी नहीं बचा सकता।

सुर-असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरिकाल दले ते।
मणि-मंत्र-तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई॥[२]

जिसप्रकार शेर मृगों को निर्दयतापूर्वक मसल डालता है; उसीप्रकार देवता, असुर एवं विद्याधर आदि जितने भी शक्तिशाली जीव हैं, वे सभी काल (यमराज) द्वारा मसल दिये जाते हैं। यद्यपि लोक में मणि, मंत्र-तंत्र बहुत होते हैं; पर मरते समय कोई भी नहीं बचा पाता है।"

बारह भावना सम्बन्धी उक्त छन्दों में मुख्यरूप से यही भाव स्पष्ट किया गया है।

इसी बात को निम्नांकित छन्द में और भी अधिक स्पष्ट किया गया है -

"कालसिंह ने मृगचेतन को घेरा भववन में।
नहीं बचावनहारा कोई यों समझों मन में।

---

१. कविवर भूधरदास कृत बारह भावना
२. पण्डित दौलतराम कृत छहढाला; पंचम ढाल, छन्द ४

मंत्र तंत्र सेना धन सम्पत्ति राजपाट छूटै।
वश नहीं चलता काललुटेरा कायनगरि लूटे॥
चक्ररतन हलधर-सा भाई काम नहीं आया।
एक तीर के लगत कृष्ण की विनश गई काया॥
देव-धर्म-गुरु शरण जगत में और नहीं कोई।
भ्रम से फिरै भटकता चेतन यूँ ही ऊमर खोई॥[१]

कालरूपी सिंह ने जीवरूपी मृग को इस संसाररूपी वन में घेर लिया है। इस जीवरूपी मृग को कालरूपी शेर से बचानेवाला कोई नहीं है-यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। जब कालरूपी लुटेरा कायारूपी नगर लूटता है, तब किसी का वश नहीं चलता; मंत्र-तंत्र सब रखे रह जाते हैं, सेना खड़ी देखती रह जाती है और राज-पाट तथा धन-सम्पत्ति सब छूट जाती है।

चक्ररत्न और बलदेव जैसा भाई भी काम नहीं आया और श्रीकृष्ण की काया एक तीर के लगने मात्र से नष्ट हो गई। अत: इस जगत में एक मात्र देव, गुरु एवं धर्म ही परमशरण है और कोई नहीं। शरण की खोज में इस जीव ने सम्पूर्ण उम्र भ्रम से भटकते हुए व्यर्थ में ही खो दी है।

सर्वाधिक सम्पत्ति और शक्ति से सम्पन्न मनुष्यों में चक्रवर्ती होता है और देवों में इन्द्र। आचार्य कुन्दकुन्द दोनों का उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि जब नवनिधियों एवं चौदहरत्नों का धनी चक्रवर्ती एवं वज्रधारी इन्द्र भी सुरक्षित नहीं तो साधारण जगतजन की क्या बात करें?

उनका कथन मूलत: इसप्रकार है -

"सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं॥
णवणिहि चउदहरयणं हय मत्तगइंद चाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये काले॥[२]

---

१. कविवर मंगतराय कृत बारह भावना, छन्द ६ एवं ७
२. वारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा), गाथा ९ एवं १०

स्वर्ग जिसका किला है, देव जिसके भृत्य हैं, वज्र जिसका हथियार है, ऐरावत हाथी जिसका वाहन है - ऐसे इन्द्र को भी कोई शरण नहीं है।

इसीप्रकार काल के आ जाने पर नव निधियाँ, चौदह रत्न, चंचल घोड़े और मदोन्मत्त हाथी तथा सुसज्जित चतुरंग सेना भी चक्रवर्ती को शरण नहीं दे पाते; तब साधारणजन को कौन शरण दे ?

तात्पर्य यह है जिसके पास सुरक्षा के इतने और इसप्रकार के साधन हैं, जब उसे भी समय आने पर देह छोड़नी ही पड़ती है, तब सामान्यजन की क्या विसात है?"

इसप्रकार हम देखते हैं कि अशरणभावना में संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता का, अशरणता का गहराई से बोध कराया जाता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि पर्यायों की क्षणभंगुरता का बोध तो अनित्यभावना के चिन्तन में बहुत गहराई से करा दिया गया था; इस अशरणभावना में क्या नई बात है ?

अनित्यभावना और अशरणभावना में मूलभूत अन्तर क्या है ?

अनित्यभावना में संयोगों और पर्यायों के अनित्यस्वभाव का चिन्तन होता है और अशरणभावना में उनके ही अशरणस्वभाव का चिन्तन किया जाता है। अनित्यता के समान अशरणता भी वस्तु का स्वभाव है। जिसप्रकार अनित्यस्वभाव के कारण प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है, नित्य परिणमन करती है; उसीप्रकार अशरणस्वभाव के कारण किसी वस्तु को अपने परिणमन के लिए पर की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। पर की शरण की आवश्यकता परतंत्रता की सूचक है, जबकि प्रत्येक वस्तु पूर्णतः स्वतंत्र है।

अशरण का अर्थ है असहाय। जिसे पर की सहायता की - शरण की आवश्यकता नहीं; वस्तुतः वही असहाय है, अशरण है। आचार्य पूज्यपाद ने इसी अर्थ में केवलज्ञान को असहाय ज्ञान कहा है।[१] जिस ज्ञान को पदार्थों के जानने में इन्द्रिय, आलोक आदि किसी की भी सहायता की आवश्यकता नहीं होती, उसे असहाय ज्ञान या केवलज्ञान कहते हैं।

---

१. सर्वार्थसिद्धि; अध्याय १, सूत्र ९ की टीका

अशरणभावना को असहायभावना नाम से भी कहा गया है। एक प्राचीन गुटका में किसी अज्ञात लेखक की लिखी एक बारह भावना मिली है; जिसमें अनित्य और अशरणभावना का स्वरूप इसप्रकार दिया गया है -

"करमयोग पुद्गल मिलनि, थावर जंगम देह।
इनको थिर समुझै नहीं, अथिर भावना एह॥
गुन परखे सत्ता लखै, दरवदृष्टि ठहराय।
परसहाय माने नहीं, यहै भाव असहाय॥[१]

कर्मोदय के योग से प्राप्त स्थूल देह एवं अन्य संयोगों को स्थिर नहीं समझना ही अनित्यभावना है।

अपने गुणों को पहचाने, सत्ता को देखे - अनुभव करे, द्रव्यदृष्टि के विषय में स्थिर हो जावे; एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सहायता नहीं कर सकता - यह स्वीकार करे - यही भाव अशरण भावना है।"

उक्त छन्दों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमें बारह भावनाओं का चिन्तन न करके उनको परिभाषित किया गया है, उनका स्वरूप समझाया गया है। जैसे प्रथम छन्द का अन्तिम पद है-'अथिर भावना एह'। ऐसा ही प्रयोग प्रायः प्रत्येक छन्द में पाया जाता है।

उक्त दृष्टि से यदि अशरणभावना सम्बन्धी छन्द के अन्तिम पद पर ध्यान दें तो वहाँ कहा गया है कि 'यहै भाव असहाय'-यह असहाय भावना है। 'भावना' के स्थान पर 'भाव' शब्द का प्रयोग छन्दानुरोध से हुआ है। इसप्रकार के प्रयोग अन्य भावना सम्बन्धी छन्दों में भी हुए हैं। जैसे अनित्यभावना को अथिरभावना और संसारभावना को जगतभावना कहा गया है-ये सभी प्रयोग छन्दानुरोधवश ही हुए हैं।

अशरण अहस्तक्षेप का सूचक है। किसी भी द्रव्य के परिणमन में किसी अन्य द्रव्य का रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं चलता। कोई व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, वह अन्य द्रव्य के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

---

१. बारह भावना संग्रह, पृष्ठ २६

वस्तु की इस स्वभावगत विशेषता का चित्रण एवं पर्यायों के स्वतंत्र क्रमनियमित परिणमन का चिन्तन ही अशरणभावना का मूल है। निमित्तों की अकिंचित्करता का सशक्त दिग्दर्शन ही अशरणभावना का आधार है। 'कोई बचा नहीं सकता' का अर्थ और क्या हो सकता है ?

अनित्यभावना का केन्द्रबिन्दु है-**'मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार'** और अशरणभावना कहती है कि - **'मरतैं न बचावे कोई'**-यही इन दोनों में मूलभूत अन्तर है।

यद्यपि अनित्य और अशरणभावना सम्बन्धी उपलब्ध चिन्तन में देह के वियोगरूप मरण की ही चर्चा अधिक है; तथापि इनकी विषयवस्तु मृत्यु की अनिवार्यता तक ही सीमित नहीं है, अपितु उनका विस्तार असीम है; क्योंकि उनकी सीमा में सभी प्रकार के संयोगों तथा पर्यायों की अस्थिरता एवं अशरणता आ जाती है।

मृत्यु सम्बन्धी अधिक चर्चा का हेतु जगतजन की मृत्यु के प्रति अत्यधिक संवेदनशीलता ही है। जगतजन मृत्यु के प्रति जितने संवेदनशील देखे जाते हैं, उतने किसी अन्य परिवर्तन के प्रति नहीं।

संवेदनशील बिन्दुओं को स्पर्श कर आचार्यदेव हमें जागृत करना चाहते हैं। मर्मस्थल पर की गई चोट निष्फल नहीं जाती। यही कारण है कि करुणासागर सन्त मृत्यु की अनिवार्यता एवं अशरणता सम्बन्धी मर्म-भेदी सत्य को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत कर कल्पनालोक में विचरने की वृत्ति को झकझोर कर तोड़ देना चाहते हैं। प्रयत्न करके देखें, शायद बच जायें, कोई बचा ले- इसप्रकार की संशयात्मक वृत्ति को या इसीप्रकार के रागात्मक विकल्पों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने की चिन्तनात्मक वृत्ति ही अशरणभावना है।

अनित्य या अशरण भावना के सन्दर्भ में मृत्यु की अनिवार्यता और अशरणता की चर्चा समस्त संयोगों और पर्यायों के वियोग की अनिवार्यता एवं अशरणता के प्रतिनिधि के रूप में ही समझना चाहिए।

अशरणभावना सम्बन्धी उक्त विश्लेषण के सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि अशरणभावना में अशरण ही नहीं, शरण भी बताये गये हैं; अतः यह कहना कि 'कोई शरण नहीं है' - क्या अर्थ रखता है ?

उक्त कथन की पुष्टि में निम्नांकित छन्द प्रस्तुत किए जा सकते हैं -

"शुद्धातम अरु पंच गुरु, जग में सरनौ दोय।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय॥[१]

इस जगत में अपना शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी - ये दो ही शरण हैं। फिर भी इस जीव के मोहोदय के कारण व्यर्थ अन्य कल्पनाएँ हुआ करती हैं।

शरण न जिय को जगत में, सुर-नर-खगपति सार।
निश्चय शुद्धातम शरण, परमेष्ठी व्यवहार॥[२]

जीव को जगत में न तो मनुष्य की शरण प्राप्त होती है, न देवताओं की और न विद्याधरों की। निश्चय से तो एकमात्र अपने शुद्धात्मा की ही शरण है और व्यवहार से पंचपरमेष्ठी भी शरणभूत कहे जाते हैं।"

यद्यपि स्थूलदृष्टि से देखने पर ऐसा भ्रम हो जाना असंभव नहीं है, तथापि गहराई से विचार करने पर यह अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी संयोग और पर्यायें अशरण ही हैं; क्योंकि निश्चितक्रमानुसार स्वसमय में होनेवाले संयोगों के वियोग एवं पर्यायों के व्यय को रोकने में पंचपरमेष्ठी और शुद्धात्मा भी तो समर्थ नहीं है, शरण नहीं है; अतः संयोग और पर्यायें तो अशरण ही हैं।

यदि ऐसा है तो फिर जिनवाणी में निश्चय से शुद्धात्मा को और व्यवहार से पंचपरमेष्ठी या रत्नत्रयधर्म को शरण क्यों कहा है ?

इन्हें शरण कहनेका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि ये तुझे मरने से बचा लेंगे या संयोगों के वियोगों को रोक देंगे या पर्यायों के परिणमन को अवरुद्ध कर देंगे या जगत को तेरी इच्छानुसार परिणमित कर देंगे।

वस्तु का परिणमन (संयोग-वियोगरूप) तो जब जैसा होना है, वैसा ही होगा; उसमें तो किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन किसी के भी द्वारा सम्भव नहीं है, न शुद्धात्मा के द्वारा और न पंचपरमेष्ठी द्वारा ही। हाँ, यह बात अवश्य है कि परिवर्तन करने के संकल्प-विकल्पों में उलझे आकुल-व्याकुल प्राणी

---

१. पण्डित जयचन्द्रजी छावड़ा कृत बारह भावना, छन्द २
२. पण्डित दीपचन्दजी कृत बारह भावना, छन्द २

यदि शुद्धात्मा या पंचपरमेष्ठी का आश्रय लें, तो तत्सम्बन्धी आकुलता-व्याकुलता से मुक्त अवश्य हो सकते हैं।

शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी की शरण का मात्र यही आशय है, इससे अधिक और कुछ नहीं। दोनों बातें अत्यन्त स्पष्टरूप से भिन्न-भिन्न हैं -

(१) मृत्यु से बचने के लिए शरण खोजने की बात।

(२) आकुलता-व्याकुलता से बचकर सुखी होने के लिए शरण खोजने की बात।

शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी - दोनों में मृत्यु से बचने के लिए कोई शरण नहीं है; किन्तु आकुलता-व्याकुलता से बचकर सुखी रहने के लिए शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी ही शरण हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अशरणभावना में जिन्हें अशरण बताया गया है, वे जनम-मरण आदि संयोग तो पूर्णत: अशरण ही हैं; अत: अशरणभावना पूर्णत: अशरणस्वरूप ही है, शरण और अशरण के मिश्रणरूप नहीं।

उक्त स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में एक प्रश्न सहजरूप से उपस्थित होता है कि यदि अशरणभावना अशरणरूप ही है, तो फिर उसमें शरण की चर्चा ही क्यों की गई ? इस अनावश्यक चर्चा से व्यर्थ के भ्रम खड़े हो जाते हैं।

भाई! यह चर्चा अनावश्यक नहीं, अत्यन्त आवश्यक है। आगम में अनावश्यक चर्चायें नहीं की जातीं। उसमें जो भी चर्चा होती है, उसका अपना एक विशेष प्रयोजन होता है। हमें उस प्रयोजन को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

अशरणभावना का मूल प्रयोजन संयोगों और पर्यायों की अशरणता का ज्ञान कराकर दृष्टि को वहाँ से हटाकर स्वभावसन्मुख ले जाना है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए संयोगों और पर्यायों को अशरण बताया जाता है और इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी को शरणभूत या परमशरण बताया जाता है।

अन्तर मात्र इतना है कि संयोगों और पर्यायों की अशरणता, दृष्टि को उन पर हटाने के लिए बताई जाती है और शुद्धात्मा को शरणभूत, दृष्टि को उस पर केन्द्रित करने की प्रेरणा देने के लिए बताया जाता है।

अशरणभावना में अकेली अशरणता की चर्चा अपना प्रयोजन सिद्ध करने में असमर्थ होने से अधूरी ही रहती; क्योंकि संयोगों और पर्यायों के अशरण बताये जाने पर दृष्टि को वहाँ से हटाने की प्रेरणा तो मिलती; परन्तु परमशरणभूत शुद्धात्मा के भान बिना, शुद्धात्मा को शरणभूत बताये बिना दृष्टि जमती कहाँ? यही कारण है कि दृष्टि के विषयभूत शुद्धात्मा को शरण बताना आवश्यक समझा गया।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अशरणभावना में संयोगों और पर्यायों की अशरणता की चर्चा को पूर्णता प्रदान करनेवाली होने से शुद्धात्मा की चर्चा अनावश्यक नहीं, अपितु परमावश्यक है।

शुद्धात्मा और पंचपरमष्ठी के अतिरिक्त धर्म को भी शरण कहा जाता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार वचनिका में पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं :-

"इस संसार में एक सम्यग्ज्ञान शरण है, सम्यग्दर्शन शरण है, सम्यक्चारित्र शरण है और सम्यक्तप-संयम शरण है। इन चार आराधना बिना अनन्तानन्तकाल में कोई शरण नहीं है तथा उत्तमक्षमादिक दश धर्म प्रत्यक्ष इस लोक में समस्त क्लेश, दुःख, मरण, अपमान, हानि से रक्षा करनेवाले हैं।"[१]

ज्ञान के घनपिण्ड, आनन्द के कन्द, परमशरणभूत निजपरमात्मतत्त्व से अपरिचित प्राणी प्राप्तपर्याय और संयोगों में ही तन्मय हैं। वे पर्यायों के परिवर्तन और संयोगों के विघटन से निरन्तर आकुल-व्याकुल हो रहे हैं। व्याकुलता से बचने के लिए यद्यपि वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं - शरण खोजते रहे हैं; तथापि स्थिति वहीं की वहीं रही। रहना ही थी; क्योंकि स्वयं मरणशील अशरणस्वभावी पर्यायों और संयोगों को शरण कौन दे, कैसे दे, क्यों दे ?

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, पृष्ठ ४००

इस समस्या का निदान ही यह अशरणभावना है; जिसमें इस तथ्य का चिन्तन किया जाता है, बार-बार विचार किया जाता है कि मरण जिनका स्वभाव है, उन्हें कौन बचावे? अशरण जिनका स्वभाव है, उन्हें कौन शरण दे ?

उनका विघटन तो अनिवार्य है-इस सत्य की स्वीकृति में ही शान्ति है, आनन्द है। यदि शान्ति और आनन्द की चाह है तो आनन्द के धाम और शान्ति के सागर आत्मस्वभाव में समा जाओ, वही परमशरण है। आत्मस्वभाव की आराधनारूप धर्म भी शरण है, उसके प्रतिपादक देव-गुरु-शास्त्र भी शरण हैं।

इन सबकी शरण में जाने से पर्यायों और संयोगों का विघटन तो न मिट सकेगा, पर तज्जन्य आकुलता और अशान्ति अवश्य मिट जावेगी।

अशरणभावना का सर्वांग स्वरूप स्पष्ट करनेवाली वृहद्द्रव्यसंग्रह की निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं -

"अथाशरणानुप्रेक्षा कथ्यते-निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरंगसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्याराधनश्च शरणं, तस्माद्बहिर्भूता ये देवेन्द्रचक्रवर्त्तिसुभटकोटिभटपुत्रादिचेतनाः गिरिदुर्गभूविवरमणिमन्त्राज्ञा-प्रसादौषधादयः पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिश्राश्च मरणकालादौ महाटव्यां व्याघ्रगृहीतमृगबालस्येव महासमुद्रे पोतच्युत पक्षिण इव शरणं न भवन्तीति विज्ञेयम्। तद्विज्ञाय भोगकांक्षारूपनिदानबन्धादिनिरालम्बने स्वसंवित्तिस-मुत्पन्नसुखामृतसालम्बने स्वशुद्धात्मन्येवालम्बनं कृत्वा भावनां करोति। यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति तादृशमेव सर्वकालशरणभूतं शरणागतवज्रपञ्जरसदृशं निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति। इत्यशरणानुप्रेक्षा व्याख्याता।[१]

अब अशरणभावना कहते हैं - निश्चयरत्नत्रयपरिणत निजशुद्धात्मद्रव्य और उसके बहिरंग सहकारी कारणभूत पंचपरमेष्ठी की आराधना शरण है। इनके अतिरिक्त इन्द्र, चक्रवर्ती, कोटिभट सुभट पुत्रादि चेतन पदार्थ; पर्वत, किला, गुफा, मणि, मंत्र, आज्ञा, महल, औषधि आदि अचेतन पदार्थ तथा दोनों के सम्मिलितरूप मिश्र पदार्थ - ये सब मरण आदि के समय में महा-अटवी

१. वृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ १२०, गाथा ३५ की टीका

में व्याघ्र द्वारा पकड़े गये हिरणशावक की भाँति अथवा महासागर में जहाज से च्युत पक्षी की भाँति शरण नहीं होते हैं-ऐसा जानना चाहिए।

यह जानकर भोगों की वांछारूप निदानबन्धादि का अवलम्बन न लेकर स्वसंवेदन से उत्पन्न सुखामृत के धारक शुद्धात्मा का अवलम्बन लेना ही श्रेयस्कर है, शरण है। जो इसप्रकार की शुद्धात्मा का शरण ग्रहण करता है, वह शुद्धात्मा की शरण में उसीप्रकार सुरक्षित हो जाता है, जिसप्रकार वज्र के पिंजरे में मृगादि व्याघ्रादि से सुरक्षित रहते हैं।

इसप्रकार अशरण भावना का व्याख्यान समाप्त हुआ।''

सभी आत्मार्थीजन निजस्वभाव की शरण ग्रहण कर अनन्तसुखी हों – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

आज नहीं तो कल

आत्मानुभवी सत्पुरुषों के सम्पर्क में आकर शुद्धात्मतत्त्व के प्रतिपादक शास्त्रों को पढ़कर आत्मा की चर्चा-वार्ता करना अलग बात है और शुद्धात्मा का अनुभव करना अलग।

अधिकांश जगत तो गतानुगतिक ही होता है। जो जिसप्रकार के वातावरण में रहता है, उसीप्रकार की बातें करने लगता है, व्यवहार करने लगता है; परन्तु वस्तु की गहराई तक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं। अधिकांश तो हाँ में हाँ मिलानेवाले और ऊपर से वाह-वाह करनेवाले ही होते हैं।

जो लोग तत्त्व की गहराई तक पहुँच जाते हैं, उन्हें तो परमतत्त्व की प्राप्ति हो ही जाती है; किन्तु जो अपनी स्थूल बुद्धि के कारण परमतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उन्हें भी इतना लाभ तो होता ही है कि वे जगत के वासनामय कषायमय विषाक्त वातावरण से तो बहुत-कुछ बचे रहते हैं, उनका जीवन सहज सात्विक बना रहता है, परिणामों में भी निर्मलता बनी रहती है।

तथापि यदि अच्छी होनहार हो तो काल पाकर उनका भी पुरुषार्थ जागृत हो जाता है और आज नहीं तो कल वे भी निजतत्त्व तक पहुँच ही जाते हैं।

– सत्य की खोज, पृष्ठ २०५

संसारभावना

दुखमय निरर्थक मलिन जो सम्पूर्णतः निस्सार है।
जगजालमय गति चार में संसरण ही संसार है॥
भ्रमरोगवश भव-भव भ्रमण संसार का आधार है।
संयोगजा चिद्वृत्तियाँ ही वस्तुतः संसार है॥१॥

संयोगों के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होनेवाली दुःखमय, निरर्थक, मलिन और सम्पूर्णतः निस्सार चिद्वृत्तियाँ (विकारी भाव) ही वास्तविक संसार है; जगजालमय चतुर्गतिभ्रमण को भी संसार कहा जाता है। भ्रमरोग (मिथ्यात्व-अज्ञान) के वश होकर भव-भव में परिभ्रमण ही संसार का मूल आधार है।

संयोग हों अनुकूल फिर भी सुख नहीं संसार में।
संयोग को संसार में सुख कहें बस व्यवहार में॥
दुख-द्वन्द हैं चिद्वृत्तियाँ संयोग ही जगफन्द है।
निज आतमा बस एक ही आनन्द का रसकन्द है॥२॥

अनुकूल संयोगों की प्राप्ति होने पर भी संसार में सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अनुकूल संयोगों की प्राप्ति को सुख मात्र व्यवहार से ही कहा जाता है। वास्तव में तो सभी संयोग संसार के फन्द ही हैं, फन्दे में फँसानेवाले ही हैं और मानसिक द्वन्द्वरूप चिद्वृत्तियाँ भी दुःखरूप ही हैं। आनन्द का रसकन्द तो एकमात्र अपना आत्मा ही है, शेष सब तो दंद-फंद ही हैं।

मंथन करे दिन-रात जल घृत हाथ में आवे नहीं।
रज-रेत पेले रात-दिन पर तेल ज्यों पावे नहीं॥
सद्भाग्य बिन ज्यों संपदा मिलती नहीं व्यापार में।
निज आतमा के भान बिन त्यों सुख नहीं संसार में॥३॥

जिसप्रकार जल का मंथन चाहे रात-दिन ही क्यों न करें, पर उसमें से घी की प्राप्ति सम्भव नहीं है; इसीप्रकार रेत को रात-दिन ही क्यों न पेलें, पर उसमें से तेल का निकलना सम्भव नहीं है तथा जिसप्रकार सद्भाग्य के बिना व्यापार में सम्पत्ति की प्राप्ति संभव नहीं है। उसीप्रकार निज आत्मा को जाने बिना संसार में सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

यह एक ऐसा महासत्य है; जिसके जाने बिना संसार से विरक्ति और आत्मसन्मुख दृष्टि होना संभव नहीं है।

संसार है पर्याय में निज आतमा ध्रुवधाम है।
संसार संकटमय परन्तु आतमा सुखधाम है॥
सुखधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥४॥

संसार तो मात्र अध्रुव पर्याय में है, निज ध्रुवधाम आत्मा में नहीं है। यद्यपि संसार संकटमय है; तथापि आत्मा तो सुख का धाम ही है। इस सुख के धाम आत्मा से जो पर्याय विमुख है, वही पर्याय वस्तुतः संसार है और ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना ही आराधना का सार है।

> धर्म का आरम्भ भी आत्मानुभूति से ही होता है और पूर्णता भी इसी की पूर्णता में। इससे परे धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है। साधक के लिए एकमात्र यही इष्ट है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है।
>
> **- मैं कौन हूँ, पृष्ठ १०**

संसारभावना : एक अनुशीलन

संसार है पर्याय में, निज आतमा ध्रुवधाम है।
संसार संकटमय परन्तु आतमा सुखधाम है॥
सुखधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥

"अपनी-अपनी सुनिश्चित भवितव्यतानुसार प्रतिसमय होनेवाले संयोगों के वियोग एवं पर्यायों के परिणमन को रोकने या स्वेच्छानुसार परिणमाने में कोई भी समर्थ नहीं है; क्योंकि सभी संयोग और पर्यायें अनित्य हैं, अशरण हैं।" - यह बात अनित्य और अशरणभावना के अनुशीलन से अत्यन्त स्पष्ट हो जाने पर भी वस्तु के सम्यक् स्वरूप से अपरिचित अज्ञानी को अज्ञानवश तथा सम्यकज्ञानी को भी कदाचित् रागवश इसप्रकार की विकल्पतरंगें उत्पन्न हो सकती हैं या होने लगती हैं कि भले ही संयोगों को स्थाई रूप प्रदान न किया जा सके; पर जबतक वे हैं, तबतक तो उनसे सुख प्राप्त होगा ही तथा जो नये संयोग प्राप्त होंगे, उनमें भी कुछ सुखकर हो ही सकते हैं।

- इसप्रकार की कल्पनाओं में उलझे रहने से उनका उपयोग संयोगों पर से हटता नहीं है, हटकर स्वभावसन्मुख होता नहीं है।

- इस स्थिति से उभरने के लिए की जानेवाली चिन्तन-प्रक्रिया का नाम संसारभावना है। संसारभावना में यह चिन्तन किया जाता है कि संयोगों में सुख नहीं है, संयोगों में सुख की कल्पना ही दुःख का मूल है।

"दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहुँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥[१]"

---

१. कविवर भूधरदास कृत बारह भावना

उक्त छन्द में इसी तथ्य को सशक्तरूप से उजागर किया गया है कि सम्पूर्ण जगत को छान मारा, पर संयोगों में कहीं सुख दिखाई नहीं दिया। यदि निर्धन धन के अभाव में दु:खी हैं तो धनवान भी कहाँ सुखी हैं? वे भी तो तृष्णावश होकर दु:खी ही दिखाई देते हैं।

संसरण ही संसार है और चतुर्गति-परिभ्रमण का नाम ही संसरण है। जिनागम में सर्वत्र चतुर्गति के दु:खों का ही वर्णन है। जैनसमाज में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले कविवर पंडित दौलतरामजी कृत सरल, सरस, सुबोध ग्रन्थ छहढाला का तो आरम्भ ही चतुर्गति-वर्णन से होता है; उसकी तो पहली ढाल में ही चतुर्गति के दु:खों का विस्तार से निरूपण किया गया है, जो कि मूलत: पठनीय है।

उक्त छहढाला की पंचम ढाल में समागत संसारभावना सम्बन्धी छन्द इसप्रकार है -

"चहुँगति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार असारा, यामैं सुख नाहिं लगारा॥

चारों गतियाँ दु:खी जीवों से ही भरी पड़ी हैं। तात्पर्य यह है कि पंचपरावर्तनों के माध्यम से चतुर्गति में भ्रमण करनेवाले सभी जीव दु:खी ही हैं, चारों गतियों में कहीं भी सुख नहीं है। यह चतुर्गति-भ्रमण रूप संसार सर्वप्रकार से असार है; इसमें रंचमात्र भी सुख नहीं है, सार नहीं है।"

प्रतिकूल संयोगों को दूरकर एवं अनुकूल संयोगों को मिलाकर सुखी होने की दिशा में किये गये किसी के भी प्रयत्न न तो आजतक सफल हुए हैं और न कभी होंगे; अत: संयोगों पर से दृष्टि हटा लेने में ही सार है, शेष सब संसार है।

सुख की लालसा से संयोगों की ओर देखनेवाले जगत को इस बात का विचार करना, चिन्तन करना, मंथन करना अत्यन्त आवश्यक है कि जिन संयोगों के लिए तू इतना लालायित हो रहा है, जिन्हें जुटाने के लिए सबकुछ

भूलकर जमीन-आसमान एक कर रहा है; उनमें सुख है भी या नहीं, उनके मिल जाने पर सुख प्राप्त होगा भी या नहीं?

कहीं ऐसा न हो कि सम्पूर्ण जीवन उनके जुटाने में ही बीत जावे और वे जुट ही न पावें; क्योंकि इन संयोगों का जुटाना मेंढकों के तोलने जैसा दुष्कर कार्य है; तराजू पर एक रखो तो दो उछलकर नीचे कूद पड़ते हैं। जबतक एक संयोग जुटता है, तबतक दूसरा बिखर जाता है। जब दाँत होते हैं, तब चने नहीं मिलते हैं; जब चने मिलते हैं, तबतक दाँत गिर चुके होते हैं। जिनमें पत्थर पचाने की ताकत है; उन्हें घी-दूध नहीं मिलता, रूखी रोटियाँ खानी पड़ती हैं और जिन्हें सब-कुछ उपलब्ध है; उनका घी, शक्कर, नमक, तेल सब बन्द है; मूँग की दाल के पानी पर जीवन चलता है। वे चाहें तो घी-दूध में दिनभर डूबे रह सकते हैं, पर उनके सामने ही अतिथि माल उड़ाते हैं और वे फीकी चाय पीते देखते रहते हैं।

कदाचित् पुण्ययोग से सब संयोग जुट भी जावें तो भी क्या सुख प्राप्त हो जावेगा ?

- इस पर आप कह सकते हैं कि इसका पता तो तभी चलेगा, जब सभी अनुकूल संयोग जुट जावेंगे ?

नहीं, भाई! इस प्रतीक्षा में समय गवाँना समझदारी नहीं है। इसप्रकार के संयोग आज जिन्हें उपलब्ध हैं, उन्हें ही देखकर सही निर्णय पर पहुँच जाना चाहिए। यह सर्वविदित तथ्य है कि लौकिक दृष्टि से जो व्यक्ति सर्वप्रकार से सम्पन्न हैं, उन्हें आज बिना गोली खाए नींद नहीं आती। हमें उन चक्रवर्तियों के अनुभव से भी लाभ उठाना चाहिए, जो छह खण्ड पृथ्वी के अधिपति होकर भी सब-कुछ छोड़कर नग्न दिगम्बर हो गये थे।

हमें वैराग्यभावना की निम्नांकित पंक्तियों पर ध्यान देना चाहिए -

"मैं चक्री पद पाय निरंतर भोगे भोग घनेरे।
तो भी तनक भये नहिं पूरन भोग मनोरथ मेरे॥

राज-समाज महा अघकारण बैर बढ़ावनहारा।
वेश्या सम लक्ष्मी अति चंचल याका को पतियारा॥
मोह महारिपु बैर विचार्‌यो जग जिय संकट डारे।
गृह कारागृह वनिता बेड़ी परिजन जन रखवारे॥
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण तप ये जिय के हितकारी।
ये ही सार असार और सब यह चक्री चितधारी॥[१]"

इसी वैराग्यभावना में समागत संसार के स्वरूप का सजीव चित्र उपस्थित करनेवाली निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं –

"सुरगति में परसम्पति देखे राग-उदय दुख होई।
मानुष योनि अनेक विपतिमय सर्वसुखी नहिं कोई॥
कोई इष्ट-वियोगी बिलखै कोई अनिष्ट-संयोगी।
कोई दीन दरिद्री बिगूचे, कोई तन के रोगी॥
किस ही घर कलिहारी नारी कै बैरी सम भाई।
किस ही के दुख बाहिर दीखै किस ही उर दुचिताई॥
कोई पुत्र बिना नित झूरै होय मरै तब रोवै।
खोटी संतति सों दुख उपजै क्यों प्राणी सुख सोवै?
पुण्य उदय जिनके तिनके भी नाहिं सदा सुख साता।
यह जगवास जथारथ देखे सब दीखै दुखदात॥
जो संसार विषैं सुख होता तीर्थंकर क्यों त्यागैं?
काहे को शिव-साधन करते संजम सौं अनुरागैं?"

अरे भाई! जरा विचार तो करो कि यदि इस चतुर्गति-भ्रमणरूप संसार में सुख होता तो तीर्थंकर जैसे पुण्यवंत महापुरुष इसे छोड़कर क्यों चले जाते, संयम धारण कर मुक्ति प्राप्त करने का पुरुषार्थ क्यों करते?

संयोगों में सुख खोजना समय और शक्ति का अपव्यय है। जिसप्रकार कितना ही मंथन क्यों न करो, पानी में से नवनीत निकलना सम्भव नहीं है;

---

१. पण्डित नैनसुखदास कृत वैराग्यभावना

कितना ही पेलो, बालू में से तेल निकलना सम्भव नहीं है; उसीप्रकार सुख की प्राप्ति के लिए संयोगों की शोध-खोज में किये गये सम्पूर्ण प्रयत्न निरर्थक ही हैं, उनसे सुख की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है।

सुख की प्राप्ति के लिए तो सुख के सागर निजस्वभाव की शोध-खोज आवश्यक है, निजस्वभाव का आश्रय आवश्यक है, उसी का ज्ञान-श्रद्धान आवश्यक है, ध्यान आवश्यक है।

- इसप्रकार का चिन्तन ही संसारभावना का मूल है।

जिसप्रकार संयोग न सुखस्वरूप हैं और न सुख के कारण हैं, उसीप्रकार न दु:खरूप हैं और न दु:ख के कारण ही हैं; वे तो परपदार्थ हैं, निमित्तमात्र हैं। दु:ख के मूलकारण तो संयोगीभाव हैं, संयोग के आश्रय से उत्पन्न हुए आत्मा के ही विकारीभाव हैं। संयोगीभाव-विकारीभाव ही वस्तुत: संसार हैं।

इस सन्दर्भ में निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य हैं -

"परद्रव्यन तैं प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुतशोध॥[१]
अरु संसारभावना एह, परद्रव्यन सौं कीजे नेह।
तू चेतन ये जड़ सरवंग, तातैं तजहु परायो संग॥[२]

वास्तव में तो परद्रव्यों के प्रति जो प्रीति का भाव है, एकत्व है, राग है, अज्ञान है; वही संसार है। शास्त्रों के शोधियों ने उसी का फल चतुर्गतिरूप भ्रमण बताया है।

परद्रव्यों से किया गया स्नेह वस्तुत: संसार है। हे आत्मन्! तू चेतन है और शरीरादि परद्रव्य सर्वांग जड़ हैं; इसलिए इनसे स्नेह छोड़ दो - इसप्रकार का चिंतन ही संसारभावना है।"

उक्त दोनों छन्दों में परद्रव्यों के प्रति प्रीति - स्नेह को ही संसार कहा गया है और इसी प्रीति को चतुर्गति-भ्रमण का कारण बताया गया है। चूँकि परसंग

१. पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना, छन्द ३
२. भैया भगवतीदास कृत बारह भावना, छन्द ४

से पर के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है; इसलिए परसंग के त्याग की भी सलाह दी गई है।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भाव ही संसार हैं। ये भाव परलक्ष्य से आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं, आत्मा की ही विकारी पर्यायें हैं, आत्मा की ही दु:खरूप अवस्थाएँ हैं।

आत्मा अनादि-अनन्त नित्य अविनाशी परमपदार्थ है और यह मोह-राग-द्वेषरूप संसार क्षणभंगुर अनित्य है – इस दृष्टि से 'जीव संसार में है' – यह कहने की अपेक्षा 'जीव में संसार है' – यह कहना अधिक उपयुक्त है।

'जीव' द्रव्य है और 'संसार' पर्याय। द्रव्य में पर्यायें होती हैं, पर्यायों में द्रव्य नहीं। संसार जीवद्रव्य की विकारी पर्याय है; अत: यह कहना किसी भी प्रकार असंगत नहीं है कि जीव में ही संसार है, संसार में जीव नहीं। जब यह कहा जाता है कि जीव संसार में है तो उसका तात्पर्य भी यही होता है कि जीव इस समय मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित हो रहा है, चतुर्गति-परिभ्रमण कर रहा है।

कुछ लोग संसार शब्द का अर्थ लोक समझते हैं। लोक में संसार शब्द का प्रयोग लोक (जगत, दुनियाँ) के अर्थ में होता भी है; पर संसार-भावना के सन्दर्भ में संसार का अर्थ लोक, दुनियाँ, जगत किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं है; क्योंकि बारह भावनाओं में संसारभावना के समान लोक भी एक भावना है। लोक और संसार भिन्न-भिन्न भावनाएँ हैं। संसार तीसरी भावना है और लोक दशवीं।

दोनों में बिन्दु और सिन्धु का अन्तर है। संसार बिन्दु है तो लोक सिन्धु। संसार जीव की विकारी पर्याय मात्र है और लोक छह द्रव्यों के समूह को कहते हैं। छह द्रव्यों में अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, असंख्य कालाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य - ये सभी अनन्तानन्त द्रव्य समाहित हो जाते हैं।

कहाँ अनादि-अनन्त षट्द्रव्यमयी लोक और कहाँ मोह-राग-द्वेषरूप दु:खस्वरूप जीव की क्षणभंगुर विकारी पर्यायरूप संसार?

लोक मात्र ज्ञेय है, पर संसार हेय भी है। षट्द्रव्यमयी लोक को मात्र जानना है, पर संसार का तो अभाव भी करना है। जिनागम का समस्त उपदेश भव (संसार) के अभाव के लिए ही है। इन बारह भावनाओं का चिन्तन भी चतुर्गति-भ्रमणरूप संसार से विरक्ति उत्पन्न कर मोह-राग-द्वेषरूप संसार का अभाव करने के लिए ही किया जाता है।

इन दोनों की चिन्तन-प्रक्रिया में भी अन्तर है। लोकभावना का विस्तार षट्द्रव्यों के स्वरूपादि के विवेचनपरक भी हो सकता है और त्रिलोक के आकार-प्रकार के व्याख्यानरूप भी। जिसप्रकार संस्थानविचय नामक धर्मध्यान में लोक का भौगोलिक चिन्तन होता है; उसीप्रकार लोकभावना में भी हो सकता है। संसारभावना में संयोगों की निरर्थकता एवं संयोगीभावों की दु:खरूपता का चिन्तन किया जाता है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि लोकभावना में भी स्वर्ग-नरक का वर्णन पाया जाता है और संसारभावना में भी नरकादि गतियों की चर्चा होती है ?

हाँ, होती है; पर दोनों के दृष्टिकोण एवं विवेचनपद्धति में अन्तर होता है। लोकभावना में अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक की रचना का स्वरूप बताया जाता है और संसारभावना में तीन लोक का नहीं, चार गतियों और उनमें होनेवाले दु:खों का वर्णन किया जाता है। चूँकि चारों गतियों के जीव तीन लोकों में ही रहते हैं; अत: जिन लोगों को संसार और लोकभावना की चिन्तन-प्रक्रिया का सम्यक् बोध नहीं है, उन्हें दोनों की एकतारूप भ्रम हो जाना असम्भव नहीं है।

लोकभावना की विषयवस्तु का विस्तृत विवेचन यथासमय किया जायेगा। यहाँ तो अभी संसारभावना का अनुशीलन चल रहा है।

संसारभावना की सीमा संयोग और संयोगीभावों तक ही है। संयोगों की निरर्थकता और संयोगीभावों की दु:खरूपता का चिन्तन ही संसारभावना की

मर्यादा है। चूँकि चतुर्गति भी संयोगरूप ही हैं या फिर जीव के भावों की अपेक्षा संयोगीभावरूप हैं; अत: संसारभावना में उनका वर्णन सहज ही आ जाता है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी सम्भव है कि संयोगों की चर्चा तो अनित्य-अशरणभावनाओं में भरपूर आ चुकी है; अत: संसारभावना में भी उसी के बारे में सोचते रहना कहाँ तक उचित है?

भाई! अनित्य और अशरणभावना की चिन्तन-प्रक्रिया से संसारभावना की चिन्तन-प्रक्रिया भिन्न है। बारह भावनाओं में मूलभूत अन्तर परस्पर चिन्तन-प्रक्रिया का ही है। उसे समझे बिना इसीप्रकार के और भी अनेकों प्रश्न उठ सकते हैं।

अनित्यभावना में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणभावना में संयोगों की अशरणता एवं संसारभावना में उन्हीं संयोगों की निरर्थकता बताई जाती है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि इन भावनाओं की चिन्तन-प्रक्रिया में क्रमिक विकास है। बारह भावनाओं के चिन्तन का एकमात्र उद्देश्य दृष्टि को संयोगों पर से हटाकर स्वभाव की ओर ले जाना है; क्योंकि संयोगीभावरूप संसार की उत्पत्ति-वृद्धि संयोगाधीन दृष्टि का ही परिणाम है। जबतक इस जीव की दृष्टि संयोगों पर रहेगी, तबतक मोह-राग-द्वेषरूप संयोगीभाव उत्पन्न होते ही रहेंगे। मोह-राग-द्वेष भाव के अतिरिक्त और संसार है ही क्या? इसप्रकार यह सिद्ध है कि संयोगाधीन दृष्टि ही संसार का कारण है।

यदि हमें भवदु:ख से बचना है तो संयोगाधीन दृष्टि का त्याग करना ही होगा। बारह भावनाओं की चिन्तन-प्रक्रिया भी इसी दृष्टि से पल्लवित हुई है।

जिसप्रकार अनित्यभावना में संयोगों की अनित्यता के साथ-साथ स्वभाव की नित्यता का भी चिन्तन किया जाता है, अशरणभावना में संयोगों की अशरणता के साथ-साथ स्वभाव की शरणभूतता का भी चिन्तन किया जाता है; उसीप्रकार संसारभावना में भी संयोगों की असारता के साथ-साथ स्वभाव की सारभूतता का भी भरपूर चिन्तन किया जाता है।

इस सन्दर्भ में कविवर बुधजनकृत छहढाला में समागत संसारभावना सम्बन्धी निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है –

"यह संसार असार महान, सार आप में आपा जान।
सुखतैं दुख दुखतैं सुख होय, समता चारों गति नहिं कोय॥

यह संसार महाअसार है, अपनी आत्मा ही महान है, सार है। इस चतुर्गति-भ्रमणरूप संसार में क्रमशः सांसारिक सुख से दुःख और दुःख से सांसारिक सुख तो होते ही रहते हैं, पर चारों ही गतियों में समतारूपी असली सुख कहीं भी नहीं है।"

उक्त छन्द में संसार को असार और आत्मा को सारभूत बताया गया है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि उक्त छन्द में संसार में दुःख के साथ सुख होना भी बताया गया है; जबकि पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला में साफ-साफ लिखा है –

"सब विधि संसार असारा, यामें सुख नाहिं लगारा।"

हाँ भाई! लिखा तो है; पर वहाँ समतारूपी सुख की बात है, समतारूपी सुख अर्थात् वास्तविक सुख तो संसार में रंचमात्र भी नहीं है। जरा ध्यान से देखो! यह बात तो बुधजनजी ने भी स्पष्टरूप से स्वीकार की है कि 'समता चारों गति नहिं कोय'। उन्होंने संसार में जिस सुख को स्वीकार किया है; वह तो पुण्योदय में प्राप्त होनेवाले विषयसुख की बात है, वह तो कहने मात्र का सुख है। वस्तुतः तो वह सुख है ही नहीं, दुःख ही है।

बात यह है कि लोक में अतीन्द्रिय आनन्द के साथ विषयभोग को भी तो सुख ही कहा जाता है; अतः इस बात की सावधानी रखना अत्यन्त आवश्यक है कि सुख शब्द का प्रयोग कहाँ किस अर्थ में हुआ है।

संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता एवं निरर्थकता का भान हुए बिना दृष्टि संयोगों पर से नहीं हटेगी; इसीप्रकार स्वभाव की महिमा आए बिना दृष्टि स्वभावसन्मुख नहीं होगी। ध्यान रहे दृष्टि के स्वभावसन्मुख होने से ही सम्यग्दर्शनादि स्वभावभावों (मोक्षमार्ग) की उत्पत्ति और वृद्धि होती है।

संसारदु:खों से मुक्त होने के लिए मुक्ति के मार्ग का पथिक होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। स्वभावसन्मुखता के अतिरिक्त और कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है; क्योंकि दृष्टि के संयोगविमुख और स्वभावसन्मुख होते ही स्वभाव के साधन संवर-निर्जरा की उत्पत्ति होकर वृद्धि आरम्भ हो जाती है और कालान्तर में यही संवर-निर्जरारूप स्वभाव के साधन वृद्धि को प्राप्त होते हुए मोक्षस्वरूप सिद्धत्व में परिणमित हो जाते हैं।

सिद्धत्व की प्राप्तिरूप पावन उद्देश्य से ही अनित्यभावना में संयोगों की अनित्यता एवं स्वभाव की नित्यता, अशरणभावना में संयोगों की अशरणता एवं स्वभाव की शरणभूतता तथा संसारभावना में संयोगों की निरर्थकता (असारता) एवं स्वभाव की सार्थकता का भरपूर दिग्दर्शन कराया जाता है।

सर्वप्रथम अनित्यभावना में स्वभाव की नित्यता एवं संयोगों की अनित्यता बताकर दृष्टि को संयोगों पर से हटाकर स्वभाव की ओर जाने के लिए प्रेरित किया जाता है; पर मोह-राग-द्वेष के जोर से अज्ञानी और राग-द्वेष के जोर से ज्ञानी भी जब अनित्य संयोगों की सुरक्षा के लिए शरण तलाशने लगते हैं तो अशरणभावना में संयोगों की अशरणता एवं स्वभाव की परमशरणभूतता का परिज्ञान अनेक युक्तियों एवं उदाहरणों के माध्यम से कराया जाता है; परन्तु जब वे आकुल-व्याकुल हो प्राप्त संयोगों में ही सुख की कल्पना करने लगते हैं तो संसारभावना में सुख-प्राप्ति में संयोगों की निरर्थकता एवं स्वभाव की सार्थकता का ज्ञान कराया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भावनाओं की चिन्तन-प्रक्रिया में पवित्र उद्देश्य की पूर्ति करनेवाला एक क्रमिक विकास है; अत: यह अत्यन्त स्पष्ट है कि संसारभावना अनित्य व अशंरणभावना में चिन्तित विषयों का पिष्टपेषण नहीं है, अपितु चिन्तन-प्रक्रिया का अगला और आवश्यक कदम है।

यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट है कि संसारभावना में संसार की असारता अर्थात् संयोगों की निरर्थकता तथा आत्मस्वभाव की सारभूतता अर्थात् सार्थकता का विचार किया जाता है, चिन्तन किया जाता है।

गहराई से विचार करें तो दु:ख का ही दूसरा नाम संसार है। अनादिकाल से चतुर्गति में भटकते हुए इस जीव ने अनन्त दु:ख भोगे हैं और निरन्तर भोग रहा है। बड़े ही भाग्य से सहज ही विचारशक्ति और विचार का अवसर प्राप्त हो गया है; अत: अवसर चूकना योग्य नहीं। संसार में सुख की कल्पना में उलझे रहकर यदि यह अवसर चूक गया तो फिर चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटकने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहेगा; अत: संसार की असारता जानकर सारभूत निज शुद्धात्मा की आराधना में ही सार है।

संसारभावना सम्बन्धी इसप्रकार के विचार-चिन्तन-मनन-घोलन की सार्थकता तभी है; जब चिन्तक की दृष्टि, उपयोग और ध्यान संयोगों पर से हटकर स्वभावसन्मुख हो अतीन्द्रिय-आनन्द का अनुभव करे।

सभी आत्मार्थीजन संसार के दु:खमयी स्वरूप का विचार कर स्वभावसन्मुख हो अनन्तसुख को प्राप्त करें - इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

बन्धन तभी तक बन्धन है, जब तक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बन्धन है; तथापि आत्मा तो अबन्धस्वभावी ही है। अनादिकाल ये यह अज्ञानी प्राणी अबन्धस्वभावी आत्मा को भूलकर बन्धन पर केन्द्रित हो रहा है। वस्तुत: बन्धन की अनुभूति ही बन्धन है। वास्तव में 'मैं बंधा हूँ'। इस विकल्प से यह जीव बंधा है। लौकिक बन्धन से विकल्प का बन्धन अधिक मजबूत है। विकल्प का बन्धन टूट जावें तथा अबन्ध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्य बन्धन भी सहज ही टूट जाते हैं। बन्धन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से दीनता-हीनता का विकास होता है। अबन्ध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है, पुरुषार्थ सहज जागृत होता है। पुरुषार्थ की जागृति में बन्धन कहाँ?

- तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७०

एकत्वभावना

आनन्द का रसकन्द सागर शान्ति का निज आतमा।
सब द्रव्य जड़ पर ज्ञान का घनपिण्ड केवल आतमा॥
जीवन-मरण सुख-दुख सभी भोगे अकेला आतमा।
शिव-स्वर्ग नर्क-निगोद में जावे अकेला आतमा॥१॥

निज भगवान आत्मा आनन्द का रसकन्द, ज्ञान का घनपिण्ड एवं शान्ति का सागर है। एक आत्मा को छोड़कर शेष सभी द्रव्य जड़ हैं। इस संसार में यह आत्मा जीवन-मरण और सुख-दुःख को अकेले ही भोगता है और नरक, निगोद, स्वर्ग या मोक्ष में भी अकेला ही जाता है।

इस सत्य से अनभिज्ञ ही रहते सदा बहिरातमा।
पहिचानते निजतत्त्व जो वे ही विवेकी आतमा॥
निज आतमा को जानकर निज में जमे जो आतमा।
वे भव्यजन बन जायेंगे पर्याय में परमातमा॥२॥

बहिरात्मा अज्ञानीजीव उक्त तथ्य से अपरिचित ही रहते हैं। जो आत्मा उक्त सत्य या निजात्मतत्त्व को पहिचानते हैं, वे ही विवेकी ज्ञानी हैं। जो जीव निजात्मतत्त्व को पहिचानकर, जानकर निज में ही जम जाते हैं, रम जाते हैं; वे भव्यजीव पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं।

सत्यार्थ है बस बात यह कुछ भी कहो व्यवहार में।
संयोग हैं सर्वत्र पर साथी नहीं संसार में॥
संयोग की आराधना संसार का आधार है।
एकत्व की आराधना आराधना का सार है॥ ३॥

व्यवहार में कुछ भी क्यों न कहा जाय, पर सत्यार्थ बात तो यही है। संसार में संयोग तो सर्वत्र पाये जाते हैं, पर सगा साथी कोई नहीं मिलता। संयोगों की आराधना - चाह, महिमा ही संसार का कारण है, आधार है; और निज एकत्व की आराधना ही आराधना का सार है।

एकत्व ही शिव सत्य है सौन्दर्य है एकत्व में।
स्वाधीनता सुख शान्ति का आवास है एकत्व में॥
एकत्व को पहिचानना ही भावना का सार है।
एकत्व की आराधना आराधना का सार है॥ ४॥

एकत्व ही सत्य है, एकत्व ही सुन्दर है और एकत्व ही कल्याणकारी है; सुख, शान्ति और स्वाधीनता एकत्व के आश्रय से ही प्रकट होती है; क्योंकि इनका आवास एकत्व में ही है। एकत्वभावना का सार तो एकत्व को पहिचानने में ही है; और एकत्व की आराधना ही आराधना का सार है।

प्रशंसा और निन्दा

प्रशंसा मानवस्वभाव की एक ऐसी कमजोरी है कि जिससे बड़े-बड़े ज्ञानी भी नहीं बच पाते हैं। निन्दा की आँच भी जिसे पिघला नहीं पाती, प्रशंसा का ठंडक उसे छार-छार कर देती है।

- आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ६८

एकत्वभावना : एक अनुशीलन

एकत्व ही शिव सत्य है सौन्दर्य है एकत्व में।
स्वाधीनता सुख-शान्ति का आवास है एकत्व में॥
एकत्व को पहिचानना ही भावना का सार है।
एकत्व की आराधना आराधना का सार है॥

अनित्य, अशरण व संसारभावना के चिन्तन में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता व निरर्थकता तथा निजस्वभाव की नित्यता, शरणभूतता एवं सार्थकता अत्यन्त स्पष्ट हो जाने पर भी ज्ञानी-अज्ञानी सभी को अपनी-अपनी भूमिकानुसार सुख-दु:ख मिलजुलकर भोग लेने का विकल्प थोड़ा-बहुत बना ही रहता है, जड़मूल से साफ नहीं होता।

उक्त विकल्प को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए ही एकत्व और अन्यत्वभावना का चिन्तन किया जाता है।

एकत्व और अन्यत्वभावना में अस्ति-नास्ति का ही अन्तर है। जिस बात का एकत्वभावना में अस्तिपरक (Positive) चिन्तन किया जाता है; उसी बात का अन्यत्वभावना में नास्तिपरक (Negative) चिन्तन होता है।

वृहद्द्रव्यसंग्रह की ३५वीं गाथा की टीका में इन दोनों भावनाओं का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है -

''एकत्वानुप्रेक्षायामेकोऽहमित्यादिविधिरूपेण व्याख्यानं, अन्यत्वानुप्रेक्षायां तु देहादयो मत्सकाशादन्ये, मदीया न भवन्तीति निषेधरूपेण। इत्येकत्वान्यत्वानुप्रेक्षायां विधिनिषेधरूप एव विशेषस्तात्पर्यं तदेव।

एकत्व अनुप्रेक्षा में 'मैं एक हूँ' - इत्यादि प्रकार से विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्व-अनुप्रेक्षा में 'देहादि पदार्थ मेरे से भिन्न हैं, मेरे नहीं हैं' - इसप्रकार निषेधरूप से व्याख्यान है। इस रीति से एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि और निषेधरूप ही अन्तर है, दोनों का तात्पर्य एक ही है।"

अन्यत्वभावना की चर्चा यथास्थान होगी ही, अभी तो यहाँ एकत्वभावना का अनुशीलन ही अपेक्षित है।

जीवन-मरण, सुख-दु:ख आदि प्रत्येक स्थिति को जीव अकेला ही भोगता है, किसी भी स्थिति में किसी का साथ सम्भव नहीं है। - वस्तु की इसी स्थिति का चिन्तन एकत्वभावना में गहराई से किया जाता है, अनेक युक्तियों और उदाहरणों से उक्त तथ्य की ही पुष्टि की जाती है।

एकत्वभावना का स्वरूप स्पष्ट करनेवाला निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य हैं -

"एकाकी चेतन सदा, फिरे सकल संसार।
साथी जीव न दूसरो, यहु एकत्व विचार॥[१]"

उक्त छन्द में यह बात स्पष्टरूप से कही गई है कि सम्पूर्ण संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव प्रत्येक परिस्थिति में सदा अकेला ही रहता है, कोई दूसरा साथ नहीं देता। - यह विचार करना ही एकत्वभावना है।

"आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यों कबहूँ या जीव को, साथी सगा न कोय॥[२]"

इस छन्द में जन्म और मरण में अकेलापन बताकर मात्र जन्म और मरण में ही अकेलापन नहीं बताया है, अपितु जन्म से लेकर मरण तक की प्रत्येक परिस्थिति में अकेलापन दर्शाया है।

एक बात और भी कही है कि इस दुखमय संसार में कहने के साथी तो बहुत मिल जायेंगे, पर सगा साथी-वास्तविक साथी कोई नहीं होता; क्योंकि वस्तुस्थिति के अनुसार कोई किसी का साथ दे ही नहीं सकता।

---

१. भावना संग्रह, पृष्ठ २६
२. कविवर भूधरदास कृत बारह भावना

इसी तथ्य को निम्नांकित छन्द में और भी अधिक मार्मिक ढंग से उभारा गया है –

"जन्मे-मरे अकेला चेतन सुख-दुख का भोगी।
और किसी का क्या इक दिन यह देह जुदी होगी॥
कमला चलत न पैंड जाय मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुख को रोवे पिता पुत्र दारा॥
ज्यों मेले में पंथी जन मिलि नेह धरें फिरते।
ज्यों तरुवर पै रैन बसेरा पंछी आ करते॥
कोस कोई दो कोस कोई उड़-उड़ फिर थक हारे।
जाय अकेला हंस संग में कोई न पर मारे॥[१]"

इसीप्रकार का भाव आचार्य पूज्यपाद ने भी सर्वार्थसिद्धि में व्यक्त किया है।

जैसाकि संसारभावना के अनुशीलन में स्पष्ट किया जा चुका है कि बारह भावनाओं के चिन्तन का एकमात्र उद्देश्य दृष्टि को संयोगों पर से हटाकर स्वभाव की ओर ले जाना है; क्योंकि संयोगाधीन दृष्टि ही संसारदुखों का मूल है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए एकत्वभावना में इस तथ्य की ओर बार-बार ध्यान आकर्षित किया जाता है कि साथी की खोज कभी सफल होनेवाली नहीं है; क्योंकि साथ की बात ही असंभव है, वस्तुस्थिति के विरुद्ध है।

भले ही क्षणभंगुर सही, अशरण सही, निरर्थक सही, पर संयोग है तो सही; किन्तु साथी तो जगत में कोई है ही नहीं। परद्रव्यों का संयोग है, पर साथ नहीं। परद्रव्य संयोगी हैं, परन्तु साथी नहीं।

संयोग और साथ में अन्तर है। संयोग तो मात्र संयोग है, पर साथ में सहयोग अपेक्षित है। संयोग में सहयोग शामिल करने पर साथ होता है। गणित की भाषा में हम इसे इसप्रकार व्यक्त कर सकते हैं – संयोग+सहयोग=साथ। दो व्यक्तियों का एक स्थान पर एकत्रित होना संयोग है, उनमें परस्पर सहयोग होना साथ है।

---

१. कविवर मंगतराय कृत बारह भावना

बेटा पहली बार बम्बई जा रहा था। उसे गाड़ी में बिठाकर पिताजी जब घर वापिस आये तो माँ ने पूछा –

"क्यों, उदास क्यों हो? बेटे को बैठने को जगह तो मिल गई थी न ?"

"हाँ, मिल तो गई थी; पर भीड़ बहुत थी, पैर रखने को भी जगह न थी। चिन्ता जगह की नहीं, इस बात की है कि बेटा पहली बार बम्बई जा रहा है और वह भी अकेला।"

"अकेला क्यों; आप ही तो बता रहे हैं कि गाड़ी में पैर रखने की भी जगह न थी?"

"भीड़ तो बहुत थी, पर साथी कोई नहीं।"

भीड़ तो मात्र संयोग की सूचक है, साथ की नहीं। जब संयोग में सहयोग, अपनापन जुड़ जाता है तो साथ बन जाता है। किन्तु जब कोई अपना है ही नहीं, कोई किसी का सहयोग कर ही नहीं सकता है; तब साथ की बात ही कहाँ रह जाती है?

जगत में संयोग हैं, पर साथ नहीं। संयोग से इन्कार करना भी भूल है और साथ मानना भी भूल है। यद्यपि संयोग क्षणभंगुर हैं, अशरण हैं, असार हैं; पर हैं अवश्य; किन्तु साथ तो है ही नहीं।

अनित्यभावना में संयोगों की अनित्यता, अशरणभावना में संयोगों की अशरणता, संसारभावना में संयोगों की असारता समझाई जाती है तो एकत्वभावना में संयोगों की स्वीकृति के साथ-साथ साथ से इन्कार किया जाता है। साथ से इन्कार का नाम ही अकेलेपन (एकत्व) की स्वीकृति है। एकत्वभावना का मूल प्रतिपाद्य यही अकेलापन (एकत्व) है।

चित्त में इस अकेलेपन की चिन्तनधारा का अविराम प्रवाह ही एकत्वभावना है। एकत्वभावना के चिन्तन-प्रवाह को देखने के लिए कविवर गिरधर का निम्नांकित छन्द उल्लेखनीय है –

"आये हैं अकेले और जायेंगे अकेले सब,
भोगेंगे अकेले दुःख सुख भी अकेले ही।
माता पिता भाई बन्धु सुत दारा परिवार,
किसी का न कोई साथी सब हैं अकेले ही॥
गिरधर छोड़कर दुविधा न सोचकर,
तत्त्व छान बैठ के एकान्त में अकेले ही।
कल्पना है नाम रूप झूठे राव रंक भूप,
अद्वितीय चिदानन्द तू तो है अकेलो ही॥[१]"

उक्त छन्द में अन्तर में पैठ जानेवाली अकेलेपन की अनुभूति का तरल प्रवाह तो है ही, सम्यग्दिशानिर्देश भी है। अकेलापन (एकत्व) है स्वरूप जिसका - ऐसे अद्वितीय चिदानन्दघन आत्मा को असत्कल्पनाओं से विरत होकर एकान्त में बैठकर अकेले ही तत्त्वाभ्यास करने की मार्मिक प्रेरणा भी इसमें दी गई है।

एकत्व (अकेलापन) आत्मा की मजबूरी नहीं, सहजस्वरूप है। एकत्व आत्मा का ऐसा स्वभाव है, जो अनादिकाल से प्रतिसमय उसके साथ है और अनन्तकाल तक रहेगा; क्योंकि वह आत्मा का द्रव्यगत स्वभाव है। इसीप्रकार अन्यत्व भी आत्मा का द्रव्यगत स्वभाव ही है। निज में एकत्व और पर से अन्यत्व वस्तु की स्वभावगत विशेषताएँ हैं, इनके बिना वस्तु का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इसी एकत्व-विभक्त आत्मा के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की है। सम्पूर्ण समयसार एकत्व-विभक्त आत्मा के प्रतिपादन को ही समर्पित है। जैसाकि निम्नांकित पंक्ति से स्पष्ट है -

"तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।[२]

उस एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं अपने निजवैभव से दिखाता हूँ।"

---

१. कविवर गिरधरकृत बारह भावना
२. समयसार, गाथा ५

एकत्व न केवल आत्मा का, अपितु प्रत्येक पदार्थ का सौन्दर्य है; पर के साथ सम्बन्ध (साथ) की चर्चा ही असत् है, विसंवाद पैदा करनेवाली है।[१]

एकत्व वस्तु की अखण्डता का सूचक है, कण-कण की स्वतंत्र सत्ता का सूचक है। साथ या साथी की कल्पना वस्तु की अखण्डता को चुनौती है, स्वतंत्र सत्ता को चुनौती है।

एकत्व की प्रतीति में स्वाधीनता का स्वाभिमान जागृत होता है, स्वावलम्बन की भावना प्रबल होती है और वृत्ति का सहज स्वभावसन्मुख ढुलान होता है। एकत्वभावना के चिन्तन का वास्तविक सुफल यही है। ध्यान रहे एकत्व वस्तु का त्रैकालिक स्वभाव है और तत्सम्बन्धी चिन्तन, मनन, घोलन एवं तद्रूप परिणमन एकत्वभावना है।

अखण्ड स्वाधीनता की सूचक और स्वावलम्बन की प्रेरक एकत्वभावना के चिन्तन से जो उल्लास और आनन्दातिरेक जीवन में प्रस्फुटित होना चाहिए, दिखाई देना चाहिए; वह आज देखने को नहीं मिलता, आज के आदमी को तो अकेलापन काटने को दौड़ता है।

सामान्यजनों की बात तो जाने दीजिये, आज त्यागियों को भी साथ चाहिए। सांसारिक कार्यों में तो साथ चाहिए ही; पर गजब तो यह है कि इसे साधना में भी साथ चाहिए, आराधना में भी साथ चाहिए, ज्ञान में भी साथ चाहिए, ध्यान में भी साथ चाहिए। नरक-स्वर्ग की बात भी जाने दीजिये; मोक्ष भी अकेले जाना स्वीकार नहीं है, वहाँ भी साथ चाहिए। अब तो ध्यान भी एकान्त में न होकर समूहों में होता है।

इसी को लक्ष में रखकर मैंने बहुत पहले लिखा था –

"ले दौलत प्राणप्रिया को तुम मुक्ति न जाने पाओगे।
यदि एकाकी चल पड़े नहीं तो यहीं खड़े रह जाओगे॥"

---

१. समयसार, गाथा ३

एकत्वभावना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ब्रह्मदेव लिखते हैं –

"निश्चयरत्नत्रय ही जिसका एक लक्षण है – ऐसी एकत्वभावना रूप से परिणमित इस जीव के सहजानन्तसुखादि अनन्त गुणों का आधारभूत केवलज्ञान ही एक सहज शरीर है। यहाँ शरीर शब्द का अर्थ स्वरूप है, सप्तधातुमय औदारिकादि शरीर नहीं।

इसीप्रकार आर्त्त-रौद्र दुर्ध्यान से विलक्षण परमसामायिक जिसका लक्षण है – ऐसी एकत्वभावना से परिणमित निजात्मतत्त्व ही सदा एक शाश्वत परमहितकारी बन्धु है; विनश्वर और अहितकारी पुत्र-स्त्री आदि नहीं।

इसीप्रकार परम-उपेक्षासंयम जिसका लक्षण है – ऐसी एकत्वभावना सहित स्वशुद्धात्मपदार्थ एक ही अविनाशी और हितकारी परम-अर्थ है; सुवर्णादि पदार्थ अर्थ नहीं।

इसीप्रकार निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न निर्विकार परमानन्द जिसका लक्षण है-ऐसे अनाकुलस्वभावयुक्त आत्मसुख ही एक सुख है; आकुलता का उत्पादक इन्द्रियसुख नहीं।

यदि कोई यह कहे कि शरीर, बन्धुजन, सुवर्णादि अर्थ एवं इन्द्रियसुख आदि निश्चय से जीव के नहीं हैं – यह कैसे कहा जा सकता है?

उससे कहते हैं कि मरण समय जीव अकेला ही दूसरी गति में जाता है, शरीरादि जीव के साथ नहीं जाते।

तथा जब जीव रोगों से घिर जाता है, तब भी विषय-कषायादि दुर्ध्यान से रहित निज शुद्धात्मा ही सहायक होता है।

यदि कोई कहे कि रोगादि की अवस्था में शुद्धात्मा किसप्रकार सहायक होता है; क्या उससे रोगादि मिट जाते हैं?

उससे कहते हैं कि रोगादि के मिटने की बात नहीं है; अपितु यदि चरमशरीर हो तो शुद्धात्मा की आराधना से उसी भव में केवलज्ञानादि को प्रगटतारूप मोक्ष प्राप्त होता है और यदि चरमशरीर न हो तो संसार की स्थिति

हटाकर देवेन्द्रादि सम्बन्धी पुण्य का सुख होता है, तत्पश्चात् परम्परा से मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

मोक्षपाहुड़ गाथा २३ में भी कहा है कि तप करने से स्वर्ग तो सभी प्राप्त करते हैं, परन्तु ध्यान के योग से जो स्वर्ग प्राप्त करता है, वह आगामी भव में अक्षय सुख प्राप्त करता है।

इसप्रकार एकत्वभावना का फल जानकर निज शुद्धात्मा के एकत्व की भावना निरन्तर करना चाहिए।[१]''

बारह भावनाओं के चिन्तन की एक आवश्यक शर्त यह है कि उसके चिन्तन से आनन्द की जागृति होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो समझना चाहिए कि कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है।

'अकेले ही मरना होगा, अकेले ही पैदा होना होगा, सुख-दु:ख भी अकेले ही भोगना होगा' - इसप्रकार के चिन्तन से यदि खेद उत्पन्न होता है तो हमें अपनी चिन्तन-प्रक्रिया पर गहराई से विचार करना चाहिए। यदि हमारी चिन्तन-प्रक्रिया की दिशा सही हो तो आह्लाद आना ही चाहिए।

जरा गहराई से विचार करें तो सब-कुछ सहज ही स्पष्ट हो जावेगा।

आपको यह शिकायत है कि सुख-दु:ख, जीवन-मरण सब-कुछ आपको अकेले ही भोगने पड़ते हैं; कोई सगा-सम्बन्धी भी साथ नहीं देता। क्या आपकी यह शिकायत उचित है?

जरा इस पर गौर कीजिये कि कोई साथ नहीं देता है या दे नहीं सकता? वस्तुस्वरूप के अनुसार जब कोई साथ दे ही नहीं सकता है, तब 'साथ नहीं देता'-यह प्रश्न ही कहाँ रह जाता है?

जब हम ऐसा सोचते हैं कि कोई साथ नहीं देता तो हमें द्वेष उत्पन्न होता है; पर यदि यह सोचें कि कोई साथ दे नहीं सकता तो सहज ही उदासीनता उत्पन्न होगी, वीतरागभाव जागृत होगा।

---

१. वृहद्द्रव्यसंग्रह : गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ १२५-१२६

आचार्य श्री पूज्यपाद एकत्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन और फल बताते हुए लिखते हैं –

''एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति परजनेषु च द्वेषानुबन्धो नोपजायते। ततो निसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते।[१]

इसप्रकार चिन्तवन करते हुए इस जीव के स्वजनों में प्रीति का अनुबन्ध नहीं होता और परजनों में द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता; इसलिए निःसंगता को प्राप्त होकर मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करता है।''

यद्यपि वस्तुस्थिति यही है कि कोई साथ दे नहीं सकता; तथापि अब जरा इस बात पर भी विचार कर लीजिए कि जीवन-मरण और सुख-दुःख में यदि आपके परिजन साथ दे भी सकते होते और देने को तैयार भी होते तो क्या आप यह चाहते कि आपके मरने के साथ ही आपका सभी कुनबा समाप्त हो जावे या आपके बीमार होते सभी बीमार हो जावें।

नहीं, कदापि नहीं; तो फिर 'कोई साथ नहीं देता' का क्या अर्थ रह जाता है?

इसीप्रकार क्या आप चाहते हैं कि आपके जन्म के साथ ही आपके परिवारवालों और इष्ट मित्रों का जन्म भी होता? यदि ऐसा होता तो फिर आपका बेटा बेटा नहीं होता, आपका जुड़वाँ भाई होता।

यह बात तो आपको भी स्वीकृत नहीं होगी। यदि हाँ, तो फिर व्यर्थ की शिकायत क्यों? सनातन सत्य की सहज स्वीकृति क्यों नहीं?

एकत्व ही सनातन सत्य है, साथ की कल्पना मात्र कल्पना ही है। एकत्व ही शिव है, कल्याणकारी है; साथ ही कल्पना अशिव है, दुःख का मूल है। एकत्व ही सुन्दर है, साथ की कल्पना मात्र कल्पनारम्य ही है।

एकत्व ही सत्य है, शिव है, सुन्दर है। साथ है ही नहीं; अतः उसके कुछ होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। साथ न सत्य है, न असत्य है; न शिव

---

१. सर्वार्थसिद्धि : अध्याय ९, सूत्र ७ की टीका

है, न अशिव है; न सुन्दर है, न असुन्दर है; क्योंकि जब वह है ही नहीं, तब फिर 'क्या है, कैसा है?' - आदि प्रश्न ही असम्भव हैं।

इस पर आप कह सकते हैं कि हम यह तो नहीं चाहते कि हमारे पुत्र-परिवार हमारे साथ ही जन्में-मरें, दु:ख भोगें; फिर भी अकेलापन .....

भाई ! महानता तो एकत्व में ही है, अकेलेपन में ही है। मानव तो अकेला ही जन्मता-मरता है, कूकर-सूकर अवश्य दस पाँच एक साथ पैदा होते देखे जाते हैं। सर्प एकसाथ लाखों पैदा होते हैं। अनन्तों का एकसाथ जन्म-मरण तो निगोदिया जीवों में ही देखा जा सकता है - इसप्रकार यदि गहराई से विचार करें तो जन्म-मरण का साथी खोजने का अर्थ निगोद को आमंत्रण देना है, निगोद की तैयारी है।

इस पर कोई कहे कि निगोद में ही सही, पर साथ मिल तो जायेगा न?

नहीं। साथ नहीं; संग मिलेगा, संयोग मिलेगा। निगोद में भी अनन्त जीवों का संग ही है, संयोग ही है; साथ नहीं; क्योंकि उनमें परस्पर सहयोग नहीं है, मात्र एकक्षेत्रावगाहत्व है।

चक्रवर्तित्व एवं तीर्थङ्करत्व मिल-जुलकर प्राप्त नहीं होते। दो-चार व्यक्ति मिल-जुलकर तीर्थङ्कर या चक्रवर्ती नहीं बनते, तीर्थङ्कर एक ही होता है और चक्रवर्ती भी एक ही।

भाई! **आत्मा का अकेलापन अभिशाप नहीं, वरदान है।** जो अकेलापन आज तुम्हें सुहाता नहीं, वस्तुत: वही आनन्द का धाम है। जिस साथ के लिए तुम इतने आकुल-व्याकुल हो रहे हो; वह मात्र मृगतृष्णा है, कभी प्राप्त न होनेवाली कल्पना है।

साथ खोजने के प्रयास न तो आज तक किसी के सफल हुए हैं और न कभी होंगे। इस दिशा में किया गया सारा श्रम व्यर्थ ही जानेवाला है। अच्छी फसल की आशा से पत्थर पर बीज बोने जैसे इस व्यर्थ के श्रम से क्या लाभ है?

ज्ञानीजन तो पुकार-पुकार कर कहते रहे हैं -

"जीव तू भ्रमत सदैव अकेला, संग साथी नहीं कोई तेरा ॥ टेक॥
अपना सुख-दुख आपहि भुगते, होत कुटुम्ब न भेला ।
स्वार्थ भयैं सब बिछरि जात हैं, विघट जात ज्यों मेला ॥
जीव तू भ्रमत सदैव अकेला ॥ १॥
रक्षक कोई न पूरन ह्वै जब, आयु अन्त की बेला ।
फूटत पार बँधत नहिं जैसे, दुद्धर जल को ठेला ॥
जीव तू भ्रमत सदैव अकेला ॥ २॥
तन-धन-जीवन विनश जात ज्यों, इन्द्रजाल का खेला ।
'भागचन्द' इमि लखकरि भाई, हो सतगुरु का चेला ॥
जीव तू भ्रमत सदैव अकेला ॥ ३॥

इस सब चिन्तन का सार यही है कि पर का साथ खोजने के व्यर्थ विकल्पों से विरत हो; ज्ञान के घनपिण्ड, आनन्द के कन्द, शान्ति के सागर, निज परमात्मतत्त्व को पहिचानकर उसी में लीन रहो, संतुष्ट रहो, तृप्त रहो। सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

एकत्व-विभक्त आत्मा के प्रतिपादक ग्रन्थाधिराज समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द आदेश देते हैं, आशीर्वाद देते हैं कि -

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥[१]

हे आत्मन्! तू इस ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा में ही नित्य प्रीतिवन्त हो, इसमें ही नित्य सन्तोष को प्राप्त हो और इससे ही तृप्त हो तो तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।"

आचार्य भगवन्तों का मात्र यही आदेश है, यही उपदेश है, यही सन्देश है कि सम्पूर्ण जगत से दृष्टि हटाकर एकमात्र अपने आत्मा की साधना करो, आराधना करो; उसे ही जानो, पहिचानो; उसी में जम जावो, उसमें ही रम

१. समयसार, गाथा २०६

जावो, उसमें ही समा जावो; इससे ही अतीन्द्रियानन्द की प्राप्ति होगी- परमसुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

पर को छोड़ने के लिए, पर से छूटने के लिए इससे भिन्न कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पर तो छूटे हुए ही हैं। वे तेरे कभी हुए ही नहीं हैं; तूने ही उन्हें अज्ञानवश अपना मान रखा था, अपना जान रखा था और उनसे राग कर व्यर्थ ही दु:खी हो रहा था। तू अपने में मगन हुआ तो वे छूटे हुए ही हैं।

इसीलिए तो करुणासागर कार्तिकेय स्वामी समझाते हैं –

"सव्वायरेण जाणह इक्कं सरीरदो भिण्णं।
जम्हि दु मुणिदे जीवे होदि असेसं खणे हेयं ॥[१]

पूरे प्रयत्न से शरीर से भिन्न इस जीव को ही जानो। उसके जान लेने पर शरीरादि समस्त बाह्य पदार्थ एक क्षण में हेय हो जाते हैं।"

पर के साथ के अभिलाषी प्राणियो! तुम्हारा सच्चा साथी आत्मा का अखण्ड एकत्व ही है, अन्य नहीं। यह एकत्व तुम्हारा सच्चा साथी ही नहीं, ऐरावत हाथी भी है; इसका आश्रय ग्रहण करो, इस पर चढ़ो और स्वयं अन्तर के धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर बन जावो; धर्म की धवल पाण्डुक शिला पर तुम्हारा जन्माभिषेक होगा, पावन परिणतियों की प्रवाहित अजस्र धारा में स्नान कर तुम धवल निरंजन हो जाओगे।

सारा लोक निज अखण्ड एकत्व के आश्रय से उत्पन्न धवल निरंजन पावन परिणतियों के अजस्र प्रवाह में निमग्न हो, आनन्दमग्न हो – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

बुद्धि भी भवितव्य का अनुसरण करती है। जब खोटा समय आता है तो बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि पर भी पत्थर पड़ जाते हैं।

- आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ६४

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ७९

अन्यत्वभावना

जिस देह में आतम रहे वह देह भी जब भिन्न है।
तब क्या करें उनकी कथा जो क्षेत्र से भी अन्य हैं॥
हैं भिन्न परिजन भिन्न पुरजन भिन्न ही धन-धाम हैं।
है भिन्न भगिनी भिन्न जननी भिन्न ही प्रिय वाम है॥१॥

जिस देह में यह आत्मा रहता है, जब वह एकक्षेत्रावगाही देह भी आत्मा से भिन्न है तो जो क्षेत्र से भिन्न है, उनकी क्या बात करें? वे तो सर्वथा भिन्न हैं ही। नगरवासी, कुटुम्बीजन, भाई-बहिन, माँ-बाप, पति या पत्नी, धन-धान्य एवं मकान आदि सभी आत्मा से भिन्न ही हैं।

अनुज-अग्रज सुत-सुता प्रिय सुहृद जन सब भिन्न हैं।
ये शुभ अशुभ संयोगजा चिद्वृत्तियाँ भी अन्य हैं॥
स्वोन्मुख चिद्वृत्तियाँ भी आतमा से अन्य हैं।
चैतन्यमय ध्रुव आतमा गुणभेद से भी भिन्न है॥२॥

छोटे-बड़े भाई, पुत्र-पुत्री, प्रिय मित्रजन आदि सभी तो आत्मा से भिन्न हैं ही, परन्तु पर के लक्ष्य से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाली शुभाशुभभावरूप तथा स्वलक्ष्य से उत्पन्न होनेवाली शुद्धभावरूप चिद्वृत्तियाँ भी आत्मा से अन्य ही हैं, भिन्न ही हैं; चैतन्यमय ध्रुव आत्मा तो गुणभेद से भी भिन्न परमपदार्थ है।

गुणभेद से भी भिन्न है आनन्द का रसकन्द है।
है संग्रहालय शक्तियों का ज्ञान का घनपिण्ड है॥
वह साध्य है आराध्य है आराधना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना का एक ही आधार है॥ ३॥

यह गुणभेद से भी भिन्न परमपदार्थ आनन्द का कन्द, ज्ञान का घनपिण्ड एवं अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है। वह परमपदार्थ साध्य भी है, आराध्य भी है और आराधना का सार भी वही है। ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना का एकमात्र आधार वही परमपदार्थ निज आत्मा है।

जो जानते इस सत्य को वे ही विवेकी धन्य हैं।
ध्रुवधाम के आराधकों की बात ही कुछ अन्य है॥
अन्यत्व को पहिचानना ही भावना का सार है।
एकत्व की आराधना आराधना का सार है॥ ४॥

जो जीव इस सत्य को जानते हैं, वे ही विवेकी हैं, वे ही धन्य हैं; क्योंकि ध्रुवधाम के आराधकों की बात ही कुछ और है। अन्यत्वभावना का सार आत्मा का पर से भिन्नत्व पहिचानना ही है एवं अखण्ड एक आत्मा की आराधना ही आराधना का सार है।

तब प्रश्न उठता है कि आखिर 'मैं हूँ कौन?' यदि एक बार यह प्रश्न हृदय की गहराई से उठे और उसके समाधान की सच्ची जिज्ञासा जगे तो इसका उत्तर मिलना दुर्लभ नहीं। पर यह 'मैं' पर की खोज में स्वयं को भूल रहा है। कैसी विचित्र बात है कि खोजने वाला खोजने वाले को ही भूल रहा है। सारा जगत पर की संभाल में इतना व्यस्त नजर आता है कि 'मैं कौन हूँ?' - यह सोचने-समझने की उसे फुर्सत ही नहीं है।

"मैं" शरीर, मन, वाणी और मोह-राग-द्वेष, यहाँ तक कि क्षणस्थायी परलक्षी बुद्धि से भिन्न एक त्रैकालिक, शुद्ध, अनादि-अनन्त, चैतन्य, ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्व हूँ, जिसे आत्मा कहते हैं।

- मैं कौन हूँ? पृष्ठ ७

अन्यत्वभावना : एक अनुशीलन

जिस देह में आतम रहे वह देह भी जब अन्य है।
तब क्या करें उनकी कथा जो क्षेत्र से भी भिन्न हैं॥
जो जानते इस सत्य को वे ही विवेकी धन्य हैं।
ध्रुवधाम के आराधकों की बात ही कुछ अन्य है॥

संयोगों की अनित्यता, अशरणता एवं असारता; अनित्य, अशरण एवं संसारभावना में बताई जा चुकी है। एकत्वभावना में यह स्पष्ट किया गया है कि कोई भी संयोग सुख-दुःख के साथी नहीं होते, सम्पूर्ण सुख-दुःख जीव अकेले ही भोगता है। अब अन्यत्वभावना में यह समझाते हैं कि परमार्थ से विचार करें तो आत्मा शरीरादि सर्व संयोगों से अत्यन्त भिन्न ही है।

अन्यत्वभावना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं -

"अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं॥[१]

आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वरूप है और शरीरादिक सभी बाह्य पदार्थ इससे भिन्न हैं - इसप्रकार चिन्तन करना अन्यत्वभावना है।"

इसीप्रकार का भाव कार्तिकेयानुप्रेक्षा में व्यक्त किया गया है, जो कि इसप्रकार है -

"जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं॥[२]

---

१. बारस अणुवेक्खा, गाथा २३
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ८२

'जीव के स्वरूप से देह भिन्न है' - जो जीव इस तात्त्विक मर्म को जानकर अपने आत्मा का सेवन (अनुभव) करता है, अन्यत्वभावना उसी के लिए कार्यकारी है अर्थात् सफल है।"

आचार्य अमितगति भी जीव से भिन्न देहादि संयोगों पर से दृष्टि हटा लेने की प्रेरणा देते हुए सामायिक पाठ में कहते हैं -

"यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपा, कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥ २७॥

जिस आत्मा का शरीर के साथ भी ऐक्य नहीं है; उसका पुत्र, पत्नी और मित्र के साथ ऐक्य कैसे हो सकता है? ठीक ही है; क्योंकि शरीर से चमड़ी दूर कर देने पर रोमछिद्र कैसे रह सकते हैं?"

और भी देखिए -

"न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्य, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥ २३॥

कोई बाह्य शरीरादि सांसारिक पदार्थ न तो मेरे हैं और न मैं उनका हूँ - ऐसा निश्चय करके हे भद्रजीव! तू बाह्यपदार्थ को छोड़ और मुक्ति की प्राप्ति के लिए निरन्तर स्वस्थ हो अर्थात् अपनी आत्मा में ही पूर्णतः लीन रह।"

इस सन्दर्भ में आचार्य पूज्यपाद का कथन भी द्रष्टव्य है -

"शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यथा - बन्ध की अपेक्षा अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से मैं अन्य हूँ। शरीर ऐन्द्रिय है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि-अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये, मैं उससे भिन्न ही हूँ - इसप्रकार शरीर से भी जब मैं अन्य हूँ, तब हे वत्स! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य ? - इसप्रकार मन को समाधानयुक्त करनेवाले को इस शरीरादिक में स्पृहा उत्पन्न

नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञान की भावनापूर्वक वैराग्य का प्रकर्ष होने पर आत्यन्तिक मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।[१]''

'संयोग अनित्य हैं, अशरण हैं, असार हैं, साथ देनेवाले नहीं हैं' - इस तथ्य से अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन से भलीभाँति परिचित हो जाने पर भी अज्ञानी को अज्ञानवश एवं ज्ञानी को भी कदाचित् रागवश थोड़े-बहुत इसप्रकार के विकल्प बने ही रहते हैं कि अनित्य सही, अशरण सही, असार सही, साथी न सही; पर शरीरादि संयोगी पदार्थ हैं तो अपने ही; निश्चय से न सही, पर व्यवहार से तो अपने हैं ही; जिनवाणी में भी तो व्यवहार से उन्हें अपना कहा है।

व्यवहार के बल से उत्पन्न इसीप्रकार की विकल्पतरंगों के शमन के लिए संयोगी परद्रव्यों से निज परमात्मतत्त्व की पारमार्थिक अत्यन्त भिन्नता का अनेक प्रकार से किया गया चिन्तन ही अन्यत्वभावना है। इसी चिन्तन के बल से व्यवहार पक्ष शिथिल होता है और पारमार्थिक निश्चय पक्ष प्रबल होता है। प्रतिसमय वृद्धिंगत व्यवहार की निर्बलता और परमार्थ की प्रबलता ही निर्जरा है, जो मुक्ति का साक्षात् कारण है।

आत्मा और शरीरादि संयोगों में परस्पर भिन्नता और अभिन्नता की वास्तविक स्थिति क्या है? - इस बात का सोदाहरण चित्रण करते हुए पंडितप्रवर दौलतरामजी लिखते हैं -

''जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा॥[२]

यद्यपि आत्मा और शरीर पानी और दूध की भाँति मिले हुए हैं; तथापि वे अभिन्न नहीं हैं, पूर्णत: भिन्न-भिन्न ही हैं। जब एकक्षेत्रावगाही शरीर भी जीव से भिन्न है तो फिर धन-मकान, पुत्र-पत्नी तो प्रकट ही भिन्न हैं, वे जीव के कैसे हो सकते हैं?''

---

१. सर्वार्थसिद्धि : अध्याय ९, सूत्र ७ की टीका
२. छहढाला, पंचम ढाल, छन्द ७

इसीप्रकार का भाव 'पद्मनंदिपंचविंशति' में भी व्यक्त किया गया है -

"क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनो।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा॥[1]

देह और आत्मा की स्थिति दूध और पानी के समान एकत्रित मात्र है। जब एकक्षेत्रावगाही शरीर और आत्मा ही भिन्न-भिन्न हैं तो प्रत्यक्ष भिन्न स्त्री आदि का क्या कहना?"

पण्डित दीपचन्दजी कृत बारह भावना में यह बात और भी अधिक स्पष्टरूप से कही गई है -

"जा तन में नित जिय वसै, सो न आपनो होय।
तो प्रतक्ष जो पर दरब, कैसे अपने होय॥

जिस शरीर में जीव नित्य रहता है, जब वह शरीर ही अपना नहीं होता, तब जो परद्रव्य प्रत्यक्ष पर हैं, वे अपने कैसे हो सकते हैं?"

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब अन्यत्वभावना में शरीरादि संयोगों से जीव को अत्यन्त भिन्न बताना ही अभीष्ट है तो फिर यहाँ यह कहने से क्या साध्य है कि जीव और शरीर पानी और दूध के समान मिले हुए हैं?

भाई! बात यह है कि अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी यह मानता आ रहा है कि जीव और शरीर एक ही हैं; क्योंकि इसे सशरीर जीव तो सर्वत्र दिखाई देते हैं, पर देह से भिन्न भगवान आत्मा कभी दिखाई नहीं दिया तथा जिनवाणी में भी व्यवहारनय से जीव और शरीर को एक कहा गया है।

समयसार की २७वीं गाथा में साफ-साफ लिखा है -

"ववहारणयो भासदि जीवो देहो हवदि खलु एक्को ।

व्यवहारनय से जीव और शरीर एक ही है।"

पर साथ-साथ यह भी लिखा है -

"ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदा वि एकट्ठो ।

---

१. पद्मनंदिपंचविंशति : अध्याय ६, श्लोक ४९

निश्चयनय से जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते।''

जब जिनवाणी में व्यवहार से ही सही, जीव और शरीर को एक कहा गया है तो उसे वैसे ही तो नहीं उड़ाया जा सकता। व्यवहारनय से कथित जीव और शरीर की एकता का वास्तविक स्वरूप क्या है? - यह बात भलीप्रकार समझे बिना उनकी परस्पर पारमार्थिक भिन्नता भी सही रूप में समझ में नहीं आ सकती।

जीव और देह की पारमार्थिक भिन्नता समझने के लिए पहले उनकी व्यावहारिक एकता की वास्तविक स्थिति जानना आवश्यक है, अन्यथा व्यवहारिक एकता की तात्कालिक उपयोगिता के साथ-साथ स्वाभाविक भिन्नता का भी भलीभाँति परिचय प्राप्त नहीं होगा, पारमार्थिक प्रयोजन की भी सिद्धि नहीं होगी; अतः देह और आत्मा की पारमार्थिक भिन्नता के साथ-साथ व्यावहारिक एकता का ज्ञान भी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; पर ध्यान रहे इनकी पारमार्थिक भिन्नता तो भिन्नता जानने के लिए है ही, व्यावहारिक एकता का स्वरूप जानना भी पारमार्थिक भिन्नता जानने के लिए ही है।

अन्यत्वभावना में मूलभूत प्रयोजन पर से अन्यत्व है, एकत्व नहीं। व्यावहारिक एकता को तो प्रयोजनपुरतः मात्र जान लेना है, वहाँ जमना नहीं है; रमना नहीं है; पर पारमार्थिक भिन्नता को तो जानना भी है, मानना भी है और पर से भिन्न निज में जमना भी है, रमना भी है, निज में ही समा जाना है।

पर से भिन्न निज में समा जाना ही वास्तविक अन्यत्वभावना है। छहढाला के उक्त कथन में 'जल-पय ज्यों जिन-तन मेला' कहकर जीव और शरीर की एकता की वास्तविक स्थिति स्पष्ट की गई है और 'पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला' कहकर पारमार्थिक भिन्नता स्पष्ट कर दी गई है।

उक्त पद में बहुत गहरी बात कही गई है कि जीव और शरीर की एकता वास्तविक एकता नहीं; मात्र मिलावट है, मेला है।

जिसप्रकार मेले में विभिन्न प्रकार के लोग सर्वप्रकार से भिन्न-भिन्न होकर भी एकत्रित हो जाते हैं; उनके एकत्रित हो जाने से वे एक नहीं हो जाते, भिन्न-

भिन्न ही रहते हैं। उसीप्रकार जीव और शरीर सर्वप्रकार से भिन्न-भिन्न होकर भी एकत्रित हो गये हैं। उनके एकत्रित हो जाने से वे एक नहीं हो जाते, भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।

जिसप्रकार एकत्रित व्यक्तियों के समूह को मेला कहा जाता है, पर वस्तुत: उन समूहगत व्यक्तियों में प्रत्येक का व्यक्तित्व रंचमात्र भी विलीन नहीं होता, खण्डित नहीं होता; स्वतंत्ररूप से अखण्डित बना रहता है; क्योंकि अमिल-मिलाप स्वभाववाले व्यक्ति वस्तुत: कभी मिल ही नहीं सकते हैं। मेला तो मेला है, उसमें एकता संभव नहीं है; मेले में एकता खोजना मेले का मेलापन खो देना है।

उसीप्रकार एकत्रित देह और आत्मा को व्यवहार जीव कहा जाता है, पर वस्तुत: देह और आत्मा कभी भी एक नहीं होते, परस्पर विलीन नहीं होते; उनका स्वरूप खण्डित नहीं होता, स्वतंत्ररूप से अखण्डित ही बना रहता है; क्योंकि अमिल-मिलापवाले जड़ और चेतन पदार्थ कभी मिल ही नहीं सकते हैं। जीव और शरीर का भी मेला तो मेला ही है, उनमें एकता खोजना दोनों के स्वरूप को खण्डित कर देना है।

जिसप्रकार दूध तो दूध है और पानी पानी, दूध कभी पानी नहीं हो सकता और न पानी दूध। दूध में पानी मिला देने से न तो दूध पानी हो जाता है और न पानी दूध; मिल जाने पर भी दूध दूध रहता है और पानी पानी। वस्तुत: वे मिलते ही नहीं, मात्र मिले दिखते हैं; क्योंकि किसी अन्य में मिलना उनका स्वभाव ही नहीं है। किसी में मिलने में स्वयं को मिटा देना होता है और कोई वस्तु स्वयं को कभी मिटा नहीं सकती है। वस्तु ही उसे कहते हैं; जो कभी मिटे नहीं, सदा सत्रूप ही रहे। अत: कोई वस्तु कभी किसी में मिलती नहीं, मात्र मिली कही जाती है। यही कारण है कि दूध भी पानी में कभी मिलता नहीं, संयोग देखकर मात्र मिला कहा जाता है।

उसीप्रकार जीव जीव है और देह देह; जीव कभी देह नहीं हो सकता है और न देह जीव। जीव और देह एकक्षेत्रावगाह हो जाने पर भी न तो जीव देह

हो जाता है और न देह जीव; संयोगीदशा में भी जीव जीव रहता है और देह देह। वस्तुत: वे मिलते ही नहीं, मात्र मिले दिखते हैं; क्योंकि किसी में मिलना उनका स्वभाव ही नहीं है। किसी में मिलने में स्वयं को मिटा देना पड़ता है और कोई वस्तु स्वयं को कभी मिटा नहीं सकती है। वस्तु ही उसे कहते हैं, जो कभी मिटे नहीं, सदा सत्रूप ही रहे। अत: कोई वस्तु किसी में कभी मिलती नहीं, मात्र मिली कही जाती है। यही कारण है कि जीव में देह कभी मिलती नहीं, एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग देखकर मात्र मिले कहे जाते हैं, हैं तो वे परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न ही।

इस सत्य के गहरे मंथन का नाम ही अन्यत्वभावना है। इसी की सम्यक् जानकारी के लिए कहा गया है -

'जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।'

विभिन्न संयोगों के मेले में खोये निज शुद्धात्मतत्त्व को खोजना, पहिचानना, पाना, उसे सबसे भिन्न निराला जानना, उसका ही सदा चिन्तन करना, उसकी ही भावना भाना, उसी का ध्यान करना, उसी में जमना-रमना, उसी में लीन हो जाना, विलीन हो जाना, उसी में सम्पूर्णत: समा जाना ही अन्यत्वभावना के चिन्तन का मूल प्रयोजन है; क्योंकि इस भवसागर से पार होने का- संसरणरूप संसारदु:खों से छूटने का एकमात्र यही उपाय है, समस्त शास्त्रों का यही सार है।

आचार्य योगीन्दुदेव भी यही प्रेरणा देते हैं -

"पुग्गलु अण्णु जि अण्ण जिउ, अणु वि सहु ववहारु।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ, लहु पावहि भवपारु॥[१]

पुद्गल अन्य है, जीव अन्य है, अन्य सब व्यवहार भी अन्य है; अत: हे आत्मन्! तू पुद्गल को छोड़ और अपने आत्मा को ग्रहण कर, इससे तू शीघ्र ही संसार से पार होगा।

---

१. योगसार दोहा ५५

जो अप्पा सुद्ध वि मुणइ, असुइ-सरीर-विभिण्णु ।
जो जाणइ सत्थई सयल, सासय-सुक्खहँ लीणु ॥[१]

जो जीव अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध आत्मा को जानता है, शाश्वत सुख में लीन वह आत्मा समस्त शास्त्रों को जान जाता है। भावार्थ यह है कि जिसने समस्त शास्त्रों के सारभूत निज शुद्धात्मतत्त्व को जान लिया और उसी में लीन हो गया, मूल प्रयोजन सिद्ध हो जाने से उसने एक प्रकार से समस्त शास्त्रों को ही जान लिया है।''

आत्मोपलब्धि की विधि में शरीरादि संयोगी परपदार्थों से भिन्नत्व की भावना का क्या स्थान है, क्या महत्त्व है, क्या क्रम है?-यह बात कविवर पंडित बनारसीदास के निम्नांकित छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से मुखरित हुई है -

''प्रथम सुद्रिष्टि सौं सरीररूप कीजै भिन्न,
तामैं और सूच्छम सरीर भिन्न मानिये ।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि सोऊ कीजै भिन्न,
ताहू मैं सुबुद्धिकौ विलास भिन्न जानिये ॥
तामैं प्रभु चेतन विराजत अखण्डरूप,
वहै श्रुतग्यान के प्रवांन उर आनिये ।
वाही कौ विचार करि वाही मैं मगन हूजै,
वाकौ पद साधिबे कौं ऐसी विधि ठानिये ॥[२]

सर्वप्रथम सुतीक्ष्ण दृष्टि से आत्मा को औदारिकादि स्थूल शरीरों से भिन्न जानना चाहिए, फिर तैजस-कार्माण सूक्ष्म शरीरों से भी भिन्न जानना-मानना चाहिए। तदनन्तर अष्ट कर्मों के उदय से होनेवाले जीव के मोह-राग-द्वेषरूप औपाधिकभावों अर्थात् भावकर्मों से भिन्न जानना चाहिए।

- इसप्रकार नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म से अथवा वर्णादि और रागादिभावों से आत्मा को भिन्न जानने के बाद सुबुद्धि के विलास अर्थात् इन

---

१. योगसार दोहा, ९५
२. नाटक समयसार, बंधद्वार, छन्द ५५

भेदविज्ञान सम्बन्धी विकल्पों से भी भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली ध्रुव निज परमात्मतत्त्व को पहिचानना चाहिए।

इन देहादिरूप मन्दिर में अखण्डरूप निज चेतनप्रभु विराजमान है। सम्यक् श्रुतज्ञान प्रमाण से प्रमाणित अर्थात् जाने गये उस चेतनप्रभु को ही हृदय में धारण करना चाहिए, उसी का विचार करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए, उसी में ही मगन हो जाना चाहिए, लीन हो जाना चाहिए; उस चेतनप्रभु की साधना की-आराधना की यही विधि है, ऐसी ही विधि है।''

उक्त छन्द में आत्मसाधना की विधि का व्यवस्थित क्रम से विवेचन किया गया है, साधक के लिए प्रेरणाप्रद मार्गदर्शन दिया गया है। छन्द की अन्तिम पंक्ति में स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा के परमपद को साधने के लिए इसप्रकार की विधि अपनाना चाहिए।

पर से भिन्नता का ज्ञान ही भेदविज्ञान है और पर से भिन्न निज चेतन भगवान का जानना, मानना, अनुभव करना ही आत्मानुभूति है, आत्मसाधना है, आत्माराधना है। सम्पूर्ण जिनागम और जिन-अध्यात्म का सार इसी में समाहित है। अन्यत्वभावना के चिन्तन की चरम परिणति भी यही है।

अनादिकाल से यह आत्मा पर को अपना मानकर उसी में रच-पच रहा है; इसीकारण चार गति और चौरासीलाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त दु:ख भी भोग रहा है। पर से एकत्व और ममत्व के कारण ही अपने को सही रूप में जान भी नहीं पा रहा है, पहिचान भी नहीं पा रहा है। पर से एकत्व और ममत्व तोड़ने के लिए पर से अन्यत्व का चिन्तन जिस गहराई से होना चाहिए; जबतक उस गहराई से नहीं किया जायेगा, तबतक पर के प्रति होनेवाले एकत्व और ममत्व को नहीं तोड़ा जा सकता है, इसके लिए सतत् प्रयास अत्यन्त आवश्यक है।

पर से एकत्व और ममत्व तोड़ने का एकमात्र उपाय प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्र सत्ता का सम्यक् बोध ही है। अपनी सीमा में सर्वप्रभुतासम्पन्न किसी भी वस्तु को अन्यवस्तु का मानना-जानना महामोह है, महा-अज्ञान है, मिथ्यात्व नामक महापाप है।

इस महापाप से बचने का एकमात्र यही उपाय है कि हम वस्तु की स्वतंत्रता का अविराम चिन्तन करें, मनन करें। निरन्तर चलनेवाली यह चिन्तनप्रक्रिया ही अन्यत्वभावना है।

इस संदर्भ में पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा हमारा मार्गदर्शन इसप्रकार करते हैं -

"अपने-अपने सत्त्व कूँ, सर्व वस्तु विलसाय।
ऐसे चितवै जीव तब, परतैं ममत न थाय॥

'प्रत्येक वस्तु स्वतंत्ररूप से अपनी-अपनी सत्ता में विलास कर रही है, किसी का किसी में कोई हस्तक्षेप नहीं है; क्योंकि वे वस्तुएँ सम्पूर्णत: भिन्न-भिन्न है' - जब जीव इसप्रकार का चिन्तवन करता है, तब उसके परपदार्थों से ममत्व उत्पन्न नहीं होता।"

'संयोग अनित्य हैं, अशरण हैं, असार हैं, साथ नहीं देते, हमसे अत्यन्त भिन्न हैं' - यह सब जान लिया, अच्छी तरह जान लिया; अब क्या करें? बस इनका ही विचार, इनका ही चिन्तन; कब तक चलेगा यह सब और क्या होगा इससे ?

कुछ नहीं, मात्र इतने से कुछ नहीं होगा। यह तो मात्र विकल्पात्मक प्रारम्भ है, इससे तो मात्र जमीन तैयार होती है, बीज तो अब डालना है। बीज डाले बिना तैयार जमीन भी कुछ फल नहीं दे सकती; पर ध्यान रहे पत्थर पर पड़ा बीज भी अंकुरित नहीं होता। जब वह अंकुरित ही नहीं होता तो फिर पल्लवित होने का, पूर्ण होने का, सफल होने का अवकाश ही कहाँ रहता है ?

हाँ, तो संयोगों की अनित्यता, अशरणता, असारता, असंगता, पृथकता; चिन्तन-मननपूर्वक भलीभाँति जान लेने पर इन्हें धारण कर लेना है, धारणा में ले लेना है, लब्धिज्ञान में डाल देना है, सुरक्षित कर देना है; इन पर से उपयोग हटा लेना है। उपयोग को इन पर से हटाकर इनसे भिन्न नित्य, परमशरणभूत, सारभूत, एक निज शुद्धात्मतत्त्व में लगाना है, लगाये रहना है। चिन्तन-मनन के विकल्पों से भी विरत होकर मात्र निज को ही जानते रहना है, मात्र जानते

रहना है और कुछ नहीं करना है; जानने का विकल्प भी नहीं करना है, जानना भी सहज होने देना है। कर्तृत्व का तनाव रंचमात्र भी नहीं रखना है; बस मात्र सहज जानना, जानना, जानना होने दो। होने तो दो घड़ी दो घड़ी इस सहज परिणमन को; इससे अन्तर से अनन्तवीर्य उल्लसित होगा, आनन्द का सागर तरंगित हो उठेगा, देह-देवल में विराजमान देवता के प्रदेश-प्रदेश में आनन्द की तरंगें उल्लसित हो उठेंगी। देह-देवल भी उसकी तरंगों से तरंगायित हो रोमांचित हो उठेगा, तेजोद्दीप्त हो उठेगा।

जब यह सब तेरे अन्तर में घटित होगा, तभी पर से एकत्व और ममत्व विघटित होगा; तभी अन्यत्वभावना का चिन्तन सफल होगा - सार्थक होगा।

होगा, अवश्य होगा; निराश होने की आवश्यकता नहीं, एक न एक दिन यह सब अवश्य घटित होगा। यदि अन्तर की रुचि जागृत रही, विवेक कुण्ठित न हुआ, तो एक न एक दिन पर में एकत्व के, ममत्व के बादल विघटित होंगे ही, राग के तन्तु भी टूटेंगे। सम्यक् दिशा में किया गया सम्यक् पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं जाता।

सर्वप्रभुतासम्पन्न, पर से भिन्न, निज शुद्धात्मतत्त्व को जन-जन जाने, पहिचाने; उसी में जमे, रमे और अतीन्द्रिय आनन्दामृत का पान कर आनन्दमग्न हों - इस पावन भावना से विराम लेता हूँ। ●

वही सत्पुरुष है

सत्पुरुष की सच्ची पहिचान ही यही है कि जो त्रिकाली ध्रुवरूप निज परमात्मा का स्वरूप बताये और उसी की शरण में जाने की प्रेरणा दे; वही सत्पुरुष है। दुनियादारी में उलझाने वाले, जगत के प्रपंच में फंसाने वाले पुरुष कितने ही सज्जन क्यों न हों, सत्पुरुष नहीं है - इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

- निमित्तोपादान, पृष्ठ ३४

६

अशुचिभावना

जिस देह को निज जानकर नित रम रहा जिस देह में।
जिस देह को निज मानकर रच-पच रहा जिस देह में॥
जिस देह में अनुराग है एकत्व है जिस देह में।
क्षण एक भी सोचा कभी क्या-क्या भरा उस देह में॥ १॥

हे आत्मन्! जिस देह को अपना जानकर, अपना मानकर तू उसमें दिन-रात रम रहा है, रच-पच रहा है; जिस देह में तूने एकत्व स्थापित कर रखा है और जिस देह में तेरा इतना अनुराग है; उस देह में क्या-क्या भरा है? - इस बात का विचार क्या तूने कभी एक क्षण भी किया है ?

क्या-क्या भरा उस देह में अनुराग है जिस देह में।
उस देह का क्या रूप है आतम रहे जिस देह में॥
मलिन मल पल रुधिर कीकस वसा का आवास है।
जड़रूप है तन किन्तु इसमें चेतना का वास है॥ २॥

जिस देह में निज भगवान आत्मा रहता है और जिस देह में तेरा इतना अनुराग है; उस देह का वास्तविक स्वरूप क्या है, रूप क्या है? - इस बात का विचार भी तूने कभी किया? यह देह अत्यन्त मलिन, मल-मूत्र, खून-माँस, पीप एवं चर्बी का घर है। यद्यपि यह शरीर जड़रूप है, तथापि इसमें चैतन्यभगवान आत्मा विराजमान है।

चेतना का वास है दुर्गन्धमय इस देह में।
शुद्धातमा का वास है इस मलिन कारागेह में॥
इस देह के संयोग में जो वस्तु पलभर आयगी।
वह भी मलिन मल-मूत्रमय दुर्गन्धमय हो जायगी॥३॥

इस दुर्गन्धमय शरीर में चैतन्य भगवान रहते हैं, इस मैली-कुचैली जेल में शुद्धात्मा का आवास है। इस देह की स्थिति तो ऐसी है कि पवित्र से भी पवित्र जो वस्तु इस मलिन देह के संयोग में एक क्षण को भी आवेगी; वह भी मलिन हो जावेगी, मल-मूत्र-मय हो जावेगी, दुर्गन्धमय हो जावेगी।

किन्तु रह इस देह में निर्मल रहा जो आतमा।
वह ज्ञेय है श्रद्धेय है बस ध्येय भी वह आतमा॥
उस आतमा की साधना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥४॥

किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इस महामलिन देह में रहकर भी यह भगवान आत्मा सदा निर्मल ही रहा है। यह निर्मल आत्मा ही परमज्ञेय है - परमशुद्धनिश्चय नय का विषय है, परमभावग्राहीशुद्धद्रव्यार्थिक नय का विषय है; श्रद्धेय है - दृष्टि का विषय है और वह भगवान आत्मा ही ध्यान का विषय है, ध्येय है। अशुचिभावना का सार उक्त भगवान आत्मा की साधना ही है और ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना ही आराधना का सार है।

हे प्रभो! कितने आश्चर्य की बात है, जिन भोगों को तुच्छ जानकर आपने स्वयं त्याग किया है, वे उन्हें ही इष्ट मान रहे हैं और आपसे ही उनकी मांग कर रहे है, आपको ही उनका दाता बता रहे हैं।

हे प्रभो! आपके अनन्तज्ञान की महिमा तो अनन्त है ही, पर अज्ञानियों के अज्ञान की महिमा भी अनन्त है, अन्यथा वे इसप्रकार व्यवहार क्यों करते?

- तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७८

अशुचिभावना : एक अनुशीलन

इस देह के संयोग में जो वस्तु पलभर आयगी।
वह भी मलिन मल-मूत्रमय दुर्गन्धमय हो जायगी॥
किन्तु रह इस देह में निर्मल रहा जो आतमा।
वह ज्ञेय है श्रद्धेय है बस ध्येय भी वह आतमा॥

"शरीरादि संयोग अनित्य हैं, अशरण हैं, असार हैं, साथ नहीं देते, अपने आत्मा से एकदम भिन्न हैं" - अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन से इस पारमार्थिक सत्य से भलीभाँति परिचित हो जाने पर भी ज्ञानीजनों को रागवश भूमिकानुसार देह अत्यन्त निकटवर्ती संयोगी पदार्थ होने से देह सम्बन्धी विकल्पतरंगें उठा ही करती हैं।

देह सम्बन्धी उक्त रागात्मक विकल्पतरंगों के शमन के लिए ज्ञानीजनों द्वारा किया जानेवाला देह सम्बन्धी अशुचिता का बार-बार चिन्तन ही अशुचिभावना है। जैसा कि पण्डित दौलतरामजी कहते हैं -

"पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥[१]

कफ और चर्बी आदि से मैली यह देह मांस, खून एवं पीपरूपी मल की थैली है। इसके आँख, कान, नाक, मुँह आदि नौ द्वारों से निरन्तर घृणास्पद मैले पदार्थ ही बहते रहते हैं। हे आत्मन्! तू ऐसी घृणास्पद इस देह से यारी (मित्रता, स्नेह) क्यों करता है?"

इस सन्दर्भ में पण्डित भूधरदासजी की निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं -

---

१. छहढाला; पंचम ढाल, छन्द ८

"देह अपावन अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई।
सागर के जल सौं शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई॥
सात कुधातमयी मलमूरत, चाम लपेटी सोहै।
अन्तर देखत या सम जग में, अवर अपावन को है॥
नव मलद्वार स्रवैं निशि-वासर, नाम लिए घिन आवै।
व्याधि उपाधि अनेक जहाँ तहँ, कौन सुधी सुख पावै?
पोषत तो दुख दोष करै अति, सोषत सुख उपजावै।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावै॥
राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय महातप कीजे, यामैं सार यही है॥[१]

यह देह अत्यन्त अपवित्र है, अस्थिर है, घिनावनी है, इसमें रंचमात्र भी सार नहीं है, सागरों के जल से धोये जाने पर भी शुद्ध होनेवाली नहीं है। चमड़े में लिपटी शोभायमान दिखनेवाली यह देह सात कुधातुओं से भरी हुई मल की मूर्ति ही है; क्योंकि अन्तर में देखने पर पता चलता है कि इसके समान अपवित्र अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

इसके नव द्वारों से दिन-रात ऐसा मैल बहता रहता है, जिसके नाम लेने से ही घृणा उत्पन्न होती है। जिसे अनेक व्याधियाँ और उपाधियाँ निरन्तर लगी रहती हैं, उस देह में रहकर आजतक कौन बुद्धिमान सुखी हुआ है?

इस देह का स्वभाव दुर्जन के समान है; क्योंकि इसमें भी दुर्जन के समान पोषण करने पर दु:ख और दोष उत्पन्न होते हैं और शोषण करने पर सुख उत्पन्न होता है। फिर भी यह मूर्ख जीव इससे प्रीति बढ़ाता है।

इसका स्वरूप रमने योग्य नहीं है, अपितु यह छोड़ने योग्य ही है; अत: हे भव्य प्राणियों! इस मानव तन को पाकर महातप करो; क्योंकि इस नरदेह पाने का सार आत्महित कर लेने में ही है।"

उक्त छन्दों में देह के अशुचि स्वरूप का वैराग्योत्पादक चित्रण कर अन्त में यही कहा गया है कि 'अस देह करे किम यारी' अर्थात् ऐसी अशुचि देह

१. पार्श्वपुराण, पृष्ठ ३४-३५

से क्या प्रेम करना? तथा 'राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है' अर्थात् इसका स्वरूप रमने योग्य नहीं है, अपितु यह छोड़ने योग्य ही है।

हे आत्मन्! देह यदि अपवित्र है तो रहने दे इसे अपवित्र; तुझे इससे क्या लेना-देना? तू तो इससे अत्यन्त भिन्न परमपवित्र भगवान आत्मा है। तू तो अपने को पहिचान। तू इस देह के ममत्व एवं स्नेह में पड़कर क्यों अनन्त दु:ख उठा रहा है? इससे सर्वप्रकार स्नेह तोड़कर स्वयं में ही समा जाने में ही सार है।

इसी बात को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

"निर्मल अपनी आत्मा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निजभाव को, यासों तजो सनेह॥[१]

अपनी आत्मा अत्यन्त निर्मल है और यह देह अपवित्रता का घर है। हे भव्यो! इसप्रकार जानकर इस देह से स्नेह छोड़ो और निजभाव का ध्यान करो।"

इसप्रकार के चिन्तन का मूल उद्देश्य देह के प्रति विरक्ति उत्पन्न कर देहदेवालय में विराजमान देह से भिन्न निज भगवान आत्मा के दर्शन-ज्ञान-रमणता की रुचि उत्पन्न करना ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अशुचिभावना में देह सम्बन्धी अशुचिंता का चिन्तन किया जाता है; तथापि इसके चिन्तन की सीमा देह की अशुचिता तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसमें आत्मा की पवित्रता का चिन्तन एवं रमणता भी समाहित हो जाती है। कार्तिकेय स्वामी तो स्पष्ट लिखते हैं -

"जो परदेहविरत्तो, णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूव सुरत्तो, असुइत्ते भावणा तस्य॥[२]

जो भव्य जीव परदेह (स्त्री आदि की देह) से विरक्त होकर अपनी देह में भी अनुराग नहीं करता है तथा अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त रहता है, उसके अशुचिभावना होती है।"

---

१. पण्डित जयचन्दजी कृत बारहभावना
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ८७

उक्त छन्द में देह से विरक्ति और आत्मस्वरूप में अनुरक्ति की बात तो अत्यन्त स्पष्टरूप से कही ही गई है; पर एक नई बात और भी कही गई है, जो सहजरूप से अन्यत्र देखने में नहीं आती। इसमें देह के भी परदेह और स्वदेह - ऐसे दो भेद कर दिये गये हैं।

एकक्षेत्रावगाही निकटवर्ती संयोगी पदार्थ होने के कारण निजदेह में तो सामान्यजनों का सहज स्नेह पाया ही जाता है, पर स्पर्शनादि इन्द्रियों के उपभोग की वस्तु होने से स्त्री आदिक के शरीर में भी राग होता ही है।

स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति उत्पन्न करने के उद्देश्य से स्त्री आदिक की देह की अपवित्रता का भी दिग्दर्शन कराया जाता रहा है। ब्रह्मचर्य धर्म की पूजा के प्रसंग में दशलक्षणपूजन में भी इसप्रकार का एक छन्द प्राप्त होता है, जो कि इसप्रकार है -

"कूरे तिया के अशुचि तन में, कामरोगी रति करे।
बहु मृतक सड़हिं मसान माँहिं, काग ज्यों चोंचे भरे॥

कामवासना से पीड़ित व्यक्ति स्त्रियों के अपवित्र शरीर में अनुराग करता है और वह उस अपवित्र शरीर के साथ इसप्रकार का व्यवहार करता है कि जिसप्रकार कौआ श्मशान में पड़े हुए सड़े मृतक कलेवर में बार-बार चोंचे मार कर करता है।

उक्त सन्दर्भ में 'पद्मनन्दि पञ्चविंशति' का निम्नांकित छन्द भी द्रष्टव्य है -

"यूकाधाम कचाः कपालमजिनाच्छन्नं मुखं योषितां।
तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ बाहू ततेे कीकसे॥
तुन्दं मूत्रमलादिसद्म जघनं प्रस्यन्दिवर्चोगृहं।
पादस्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते॥[१]

जिनके बाल जुओं के घर हैं, कपाल और चेहरा चमड़े से आच्छादित है, दोनों नेत्र उस चेहरे के छिद्र हैं, दोनों स्तन माँस से भरे हुए हैं, दोनों भुजायें हड्डियाँ हैं, उदर मलमूत्रादि का स्थान है, जंघा प्रदेश बहते हुए मल का घर

१. पद्मनन्दि पंचविंशति : अध्याय १२, छन्द १५

है तथा पैर ठूंठ के समान है; स्त्रियों का ऐसा यह अपवित्र शरीर क्या महान् पुरुषों के लिए अनुराग का कारण हो सकता है? नहीं, कदापि नहीं।''

यद्यपि उक्त सम्पूर्ण कथन स्त्री शरीर को लक्ष्य में लेकर किया गया है; तथापि इसका आशय यह कदापि नहीं है कि पुरुष शरीर पवित्र होता है। पुरुष शरीर भी स्त्री शरीर के समान ही मल-मूत्र का घर एवं रक्त, माँस और हड्डियों का ही पिण्ड है।

चाहे नरदेह की चर्चा हो, चाहे नारीदेह की; इसीप्रकार चाहे स्वदेह की चर्चा हो या परदेह की; अशुचिभावना में सभी देहों की चर्चा उनकी स्वभावगत अशुचिता के दिग्दर्शन के लिए ही होती है; क्योंकि अशुचिभावना के चिन्तन का प्रयोजन स्व-पर देह एवं तत्सम्बन्धी भोगों से विरक्ति उत्पन्न करना होता है।

यह शरीर स्वयं तो अशुचि है ही, इसके संसर्ग में आनेवाला प्रत्येक पदार्थ भी इसके संयोग से अपवित्र हो जाता है। शुद्ध, सात्त्विक, सुस्वादु, सुन्दरतम भोजन इसके संसर्ग में आते ही उच्छिष्ट हो जाता है, मुँह में डालते ही अपवित्र हो जाता है, चबाया हुआ ग्रास हाथ में लेते स्वयं को भी ग्लानि उत्पन्न होती है। पेट में पहुँच जाने के बाद वमन हो जावे तो उसे कोई छूने को भी तैयार नहीं होता। अधिक काल तक देह के सम्पर्क में रहने पर तो वह मल-मूत्र में परिणमित हो ही जाता है।

प्रातः शुद्ध, साफ, सुन्दर, वस्त्र पहनते हैं तो शाम तक ही मैले-कुचैले हो जाते हैं, पसीने की गन्ध आने लगती है। निर्मल जल से स्नान करने पर भी यह शरीर तो निर्मल नहीं होता, जल अवश्य मैला हो जाता है।

इस बात की चर्चा करते हुए स्नानाष्टक में कहा गया है -

''सन्माल्यादि यदीयसंनिधिवशादस्पृश्यतामाश्रयेद्
विण्मूत्रादिभृतं रसादिघटितं वीभत्सु यत्पूति च।
आत्मानं मलिनं करोत्यपि शुचिं सर्वाशुचीनामिदं
संकेतैकगृहं नृणां वपुरपां स्नानात्कथं शुद्धयति ॥[१]

१. पद्मनन्दि पंचविंशति : अध्याय २५, छन्द १

जिस शरीर की समीपता के कारण उत्तम माला आदि पदार्थ छूने के योग्य नहीं रहते हैं, जो मल-मूत्रादि से भरा हुआ है, रस-रुधिरादि सप्तधातुओं से रचा गया है, भयानक है, दुर्गन्ध से युक्त है तथा जो निर्मल आत्मा को भी मलिन करता है, समस्त अपवित्रताओं के एक संकेतगृह के समान यह मनुष्यों का शरीर जल के स्नान से कैसे शुद्ध हो सकता है?"

इसी बात को समझाते हुए मंगतरायजी कहते हैं :-

"तू नित पोखे यह सूखे ज्यों धोवे त्यों मैली।
निश-दिन करे उपाय देह का रोग दशा फैली॥
मात-पिता रज-वीरज मिलकर बनी देह तेरी।
माँस हाड़ नश लहू राध की प्रगट व्याधि घेरी॥
काना पौंडा पड़ा हाथ यह चूसे तो रोवै।
फले अनन्त जु धर्मध्यान की भूमि विषैं बोवै॥
केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी।
देह परस तैं होय अपावन निशदिन मल जारी॥[१]

ज्यों-ज्यों तू इस देह को पुष्ट करता है, त्यों-त्यों ही यह सूखती जाती है; तथा ज्यों-ज्यों धोता है, त्यों-त्यों मैली होती जाती है। यद्यपि तू इसे स्वस्थ रखने के प्रयत्न में दिन-रात लगा रहता है, तथापि यह रोगों से ही घिरती जाती है। माता-पिता के रज-वीर्य से निर्मित यह तेरी देह रक्त, माँस, पीप, हाड़, नस की व्याधियों से निरन्तर घिरी ही रहती है।

यह देह काने गन्ने के समान तेरे हाथ पड़ गई है। तू इसे चूसने का प्रयोग करेगा तो रोना पड़ेगा। यदि इस काने गन्नेरूपी रोगी देह को धर्मध्यानरूपी भूमि में बो देगा तो अनन्तसुखरूप फलेगी। निरन्तर मल बह रहा है-ऐसी इस देह के स्पर्शमात्र से सुगन्धित केशर, चन्दन एवं फूल अपवित्र हो जाते हैं।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का संक्षिप्त सार मात्र इतना ही है कि स्वभाव से ही अशुचि देह के ममत्व एवं अनुराग में ही यह दुर्लभ नरभव गमा देना उचित

---

१. मंगतराय कृत बारह भावना

नहीं है, बुद्धिमानी का काम नहीं है। इस देह से अत्यन्त भिन्न स्वभाव से ही परमपवित्र निज भगवान आत्मा की साधना-आराधना करना ही इस मानवजीवन में एकमात्र करने योग्य कार्य है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनित्यभावना से लेकर अशुचिभावना तक का सम्पूर्ण चिन्तन संयोगी पदार्थों के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा है। संयोगी पदार्थों में भी आत्मा के अत्यन्त निकटवर्ती संयोगी पदार्थ होने से शरीर ही केन्द्रबिन्दु बना रहा है। अनित्यभावना में मृत्यु की चर्चा करके शरीर के संयोग की ही क्षण-भंगुरता का चिन्तन किया गया है। अशरणभावना में 'मरने से कोई बचा नहीं सकता' की बात करके शरीर के संयोग को अशरण कहा जाता है। इस संसार में अनेक देहों को धारण किया, पर किसी देह के संयोग में सुख प्राप्त नहीं हुआ।

शरीर के संयोग-वियोग का नाम ही तो जन्म-मरण है; जन्म-मरण के अनन्त दु:ख भी जीव अकेला ही भोगता है, कोई भी संयोग साथ नहीं देता; देहादि सभी संयोगी पदार्थ आत्मा से अत्यन्त भिन्न ही हैं - यही चिन्तन एकत्व और अन्यत्व भावनाओं में होता है। स्व और पर शरीर की अशुचिता का विचार ही अशुचिभावना में किया जाता है।

इसप्रकार यह निश्चित है कि उक्त सम्पूर्ण चिन्तन देह को केन्द्रबिन्दु बनाकर ही चलता है। उक्त सम्पूर्ण चिन्तनप्रक्रिया का एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को देहादि संयोगी पदार्थों पर से हटाकर स्वभावसन्मुख ले जाना है। उक्त प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही अनित्यादि भावनाओं की चिन्तन-प्रक्रिया का स्वरूप निर्धारण हुआ है।

अनादिकाल से ही इस आत्मा ने अज्ञानवश इन देहादि संयोगी पदार्थों में एकत्व और ममत्व स्थापित कर रखा है, इनमें ही सुख-दु:ख की कल्पना कर रखी है। इस एकत्व, ममत्व और अज्ञान के कारण इन शरीरादि संयोगी पदार्थों के प्रति इसे अनन्त अनुराग बना रहता है। उसी अनुरागवश यह निरन्तर इन्हीं की साज-सँभाल में लगा रहता है।

यद्यपि यह सत्य है कि इसके सँभालने के विकल्पों से देहादि संयोगों के परिणमन में कोई अन्तर नहीं पड़ता है; तथापि यह उनकी सँभाल के विकल्पों

में स्वयं उलझा ही रहता है, उनके सहज ही अनुकूल परिणमन में प्रसन्न एवं प्रतिकूल परिणमन में खेदखिन्न तो हुआ ही करता है।

समय आने पर जब यह आत्मा जिनागम के अभ्यास एवं सद्गुरुओं के सत्समागम से उपलब्ध तत्त्वज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसकर देखता है तो बुद्धि के स्तर पर यह बात समझ में भली-भाँति आने लगती है कि ये देहादि संयोगी पदार्थ अनित्य हैं, अशरण हैं, असार हैं, अत्यन्त अशुचि हैं, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, सुख-दु:ख के साथी नहीं हैं-अपने सुख-दु:ख स्वयं मुझे अकेले ही भोगने पड़ते हैं।

मैं तो इन शरीरादि संयोगों और निमित्त से होनेवाले संयोगी भावों तथा निज निर्मल पर्यायों एवं गुणभेद से भी भिन्न स्वयं भगवान आत्मा हूँ, अनन्त गुणों का धाम हूँ, अनन्तानन्त शक्तियों का संग्रहालय हूँ, ज्ञान का घनपिण्ड एवं आनन्द का कन्द परमप्रभु परमेश्वर हूँ।

इस विकल्पात्मक सच्ची समझ की अविरल चिन्तनधारा के प्रबल प्रवाह से देहादि संयोगों के प्रति विद्यमान एकत्व, ममत्व एवं अनुराग की पकड़ कुछ ढीली पड़ने लगती है; काल पक जाने पर अन्त में एकसमय ऐसा आता है कि जब यह आत्मा इस चिन्तन-धारा को भी पारकर इन देहादि संयोगों से भिन्न निज भगवान आत्मा का अनुभव करने लगता है, तब अनादिकालीन मिथ्यात्वग्रन्थि को भेदकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न हो जाने पर भी अस्थिरता के कारण जब उपयोग बाहर आता है तो अनादिकालीन अभ्यासवश इन देहादि संयोगों को सँभालने की विकल्पतरंगें फिर शिर उठाने लगती हैं। यद्यपि उनमें वह जोर तो नहीं रहता, जो मिथ्यात्व की उपस्थिति में रहता था; तथापि चित्त तरंगायित तो हो ही जाता है।

यद्यपि देहादि संयोगों के प्रति होनेवाला एकत्व, ममत्व और अनन्त अनुराग उपशमित हो गया है; तथापि अप्रत्याख्यानादि सम्बन्धी अनुराग तो विद्यमान ही है। यद्यपि अनन्त अनुराग के समक्ष उसकी शक्ति अनन्तवें भाग

मात्र है; तथापि उसे इतना कमजोर भी नहीं समझना चाहिए कि वह अनुराग चित्त को तरंगायित ही न कर सके।

आदिनाथ भगवान की दिव्यध्वनि का लाभ छोड़कर भरत चक्रवर्ती को साठ हजार वर्ष तक लड़ने के लिए प्रेरित करनेवाली, बाध्य करनेवाली, विकल्पतरंगें अस्थिरताजन्य अनुराग का ही परिणाम थीं।

उक्त अस्थिरताजन्य विकल्पतरंगों के शमन के लिए शरीरादि संयोगों की अनित्यता, अशरणता, असारता, पृथकता, अशुचिता आदि की चिन्तनधारा ज्ञानियों को भी चलती रहती है और चलती रहनी चाहिए।

ज्यों-ज्यों यह चिन्तनधारा प्रबल से प्रबलतर एवं प्रबलतर से प्रबलतम होती जाती है; त्यों-त्यों उक्त अस्थिरताजन्य विकल्पतरंगें निरन्तर कमजोर पड़ती जाती हैं और ज्यों-ज्यों वे विकल्पतरंगें कमजोर पड़ती जाती हैं; त्यों-त्यों यह चिन्तनधारा और भी अधिक प्रबलरूप धारण करती जाती है।

चिन्तन की यह प्रबलता उक्त विकल्पतरंगों को उपशमित कर स्वयं भी उपशमित हो जाती है और आत्मा निर्विकल्प समाधि में समा जाता है।

अन्तर का जोर कमजोर पड़ते ही समाधि भंग हो जाती है और चित्त में फिर उसीप्रकार की विकल्पतरंगें उठने लगती हैं। उन विकल्पतरंगों को शमन करने के लिए फिर वही संयोगों की अनित्यादि सम्बन्धी एवं निजस्वभाव के सामर्थ्य सम्बन्धी चिन्तनधारा चल पड़ती है। वह चिन्तनधारा पूर्वोक्त क्रमानुसार प्रबलता को प्राप्त होती हुई रागात्मक विकल्पतरंगों को उपशमित करके स्वयं उपशमित हो जाती है और आत्मा फिर निर्विकल्प समाधि में समा जाता है।

अन्तर का जोर कमजोर पड़ते ही समाधि फिर भंग हो जाती है। फिर वही क्रम आरम्भ होता है - विकल्पतरंगों का उठना, उनके विरुद्ध ज्ञानात्मक चिन्तन का जागृत होना, प्रतिसमय विकल्पतरंगों का निर्बल और वैराग्योत्पादक चिन्तनधारा का सबल होते जाना और अन्त में दोनों ही विलीन होकर समाधि में समा जाना तथा अन्त में अन्तर का जोर कमजोर पड़ते ही समाधि का भंग हो जाना।

इसप्रकार की चिन्तनप्रक्रिया यद्यपि चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थान में भी चलती रहती है; तथापि उसमें वह तेजी नहीं होती, जो मुनि अवस्था में पाई जाती है। स्वरूप के साधक परमवीतरागी भावलिंगी दिगम्बर मुनिराजों के यह गति इतनी तीव्र होती है कि प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में यह चक्र एक बार तो घूम ही जाता है। यही कारण है कि बारह भावनाओं की चर्चा मुख्यरूप से मुनिराजों के सन्दर्भ में की जाती है।

अनवरतरूप से चलनेवाली इस सम्पूर्ण प्रक्रिया से चारित्रमोह सम्बन्धी अनुराग भी निरन्तर क्षीण से क्षीणतर एवं क्षीणतर से क्षीणतम होता जाता है और एक दिन ऐसा भी आ जाता है कि यह आत्मा अनन्त काल तक के लिए अपने में ही समा जाता है; फिर उसकी समाधि कभी भंग नहीं होती, अपने में ही मग्न वह आत्मा अनन्त काल तक अनन्तसुख भोगता है।

इस स्थिति पर पहुँच जाने पर बारह भावनाओं की चिन्तनप्रक्रिया से भी सदा के लिए पार हो जाता है। बारहभावनाओं के चिन्तन का मूल प्रयोजन उक्त स्थिति तक पहुँचना ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन बारह भावनाओं के चिन्तन की उपयोगिता मिथ्यात्वी मुमुक्षु आत्मार्थी से लेकर अपनी-अपनी भूमिकानुसार तबतक निरन्तर आवश्यक है, जबतक कि यह आत्मा पूर्ण वीतरागी होकर अनन्तकाल तक के लिए समाधि में समाहित नहीं हो जाता है।

बुद्धिपूर्वक की जानेवाली आत्मसाधना या आत्माराधना की प्रक्रिया और विधि तो मात्र यही है। जो आत्मार्थी बुद्धिपूर्वक उक्त विधि को अपनाते हुए उग्रता से आत्मोन्मुखी प्रबल पुरुषार्थ करते हैं, लगता है उनका भवितव्य अच्छा है और उनके संसार से पार होने का समय आ गया है, तभी तो वे इस पतनोन्मुखी भोगप्रधान युग में भोगों से विरक्त हो आत्मोन्मुखी सम्यक् पुरुषार्थ में संलग्न हैं।

सभी आत्मार्थी शरीरादि संयोगों की अशुचिता एवं निजस्वभाव की शुचिता को भली-भाँति जानकर, पहिचानकर; संयोगों से विरत हो, निजस्वभाव में रत होकर अनन्तसुखी हों – इस पावन भावना से विराम लेता हूँ। ●

आस्रवभावना

संयोगजा चिद्वृत्तियाँ भ्रमकूप आस्रवरूप हैं।
दुखरूप हैं दुखकरण हैं अशरण मलिन जड़रूप हैं॥
संयोग विरहित आतमा पावन शरण चिद्रूप है।
भ्रमरोगहर संतोषकर सुखकरण है सुखरूप है॥ १॥

संयोग के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली चैतन्य की राग-द्वेषरूप वृत्तियाँ भ्रम का कुआँ है, आस्रवभावरूप हैं, दु:खस्वरूप हैं, दु:ख की कारण हैं, मलिन हैं, जड़ हैं, अशरंण हैं और संयोगों से रहित भगवान आत्मा परमपवित्र है, परमशरण है, चैतन्यरूप है, भ्रमरोग को हरण करनेवाला, संतोष करनेवाला, सुख करनेवाला और आनन्दरूप है।

इस भेद से अनभिज्ञता मद मोह मदिरा पान है।
इस भेद को पहिचानना ही आत्मा का भान है॥
इस भेद की अनभिज्ञता संसार का आधार है।
इस भेद की नित भावना ही भवजलधि का पार है॥ २॥

आत्मा और आस्रव के इस भेद को नहीं जानना मोहरूपी मदिरा का पान करना है और दोनों के भेद को पहिचान लेना ही आत्मा का सच्चा ज्ञान है। इस भेद को नहीं पहिचानना ही संसार का मूल कारण है। इस भेद की निरन्तर भावना ही संसार समुद्र का किनारा है।

इस भेद से अनभिज्ञ ही रहते सदा बहिरातमा।
जो जानते इस भेद को वे ही विवेकी आतमा॥
यह जानकर पहिचानकर निज में जमे जो आतमा।
वे भव्यजन बन जायेंगे पर्याय में परमातमा॥ ३॥

बहिरात्मा जीव इस भेद से सदा अनभिज्ञ ही रहते हैं और जो इस भेद (रहस्य) को जानते हैं, वे ही विवेकीजीव हैं। इस रहस्य को जानकर, पहिचानकर जो आत्मा अपने में जम जायेंगे, रम जायेंगे; वे भव्यजन पर्याय में भी परमात्मा बन जायेंगे।

हैं हेय आस्रवभाव सब श्रद्धेय निज शुद्धातमा।
प्रिय ध्येय निश्चय ज्ञेय केवल श्रेय निज शुद्धातमा॥
इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥ ४॥

शुभाशुभभावरूप सम्पूर्ण आस्रवभाव हेय हैं और अपना शुद्धात्मा श्रद्धेय है, ध्येय है, निश्चय से ज्ञेय भी वही है; परमप्रिय एवं श्रेष्ठ भी वही है।

इस सत्य को पहिचानना ही आस्रवभावना का सार है और ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना ही आराधना का सार है।

सर्वज्ञता के निर्णय से, क्रमबद्धपर्याय के निर्णय से मति व्यवस्थित हो जाती है, कर्त्तत्व का अहंकार गल जाता है, सहज ज्ञातादृष्टापने का पुरुषार्थ जागृत होता है, पर में फेर-फार करने की बुद्धि समाप्त हो जाती है; इसकारण तत्संबंधी आकुलता-व्याकुलता भी चली जाती है, अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होने के साथ-साथ अनन्त शांति का अनुभव होता है।

सर्वज्ञता के निर्णय और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से इतने लाभ तो तत्काल प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् जब वही आत्मा, आत्मा के आश्रय से वीतराग-परिणति की वृद्धि करता जाता है, तब एक समय यह भी आता है कि जब वह पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता को स्वयं प्राप्त कर लेता है। आत्मा से परमात्मा बनने का यही मार्ग है। **- क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ ६६-६७**

आस्रवभावना : एक अनुशीलन

संयोगजा चिद्वृत्तियाँ भ्रमकूप आस्रवरूप हैं।
दुखरूप हैं दुखकरण हैं अशरण मलिन जड़रूप हैं॥
संयोग विरहित आतमा पावन शरण चिद्रूप है।
भ्रमरोगहर संतोषकर सुखकरण है सुखरूप है॥

शरीरादि संयोगी पदार्थों में एकत्व-ममत्व एवं इन्हीं शरीरादि के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेषरूप विकल्पतरंगें भावास्रव हैं, तथा इन्हीं भावास्रवों के निमित्त से कार्माण वर्गणाओं का कर्मरूप परिणमित होना द्रव्यास्रव है।

भावास्रव व द्रव्यास्रव - इन दो भेदों के अतिरिक्त मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - इन पाँच भेदों में भी आस्रव विभाजित किया जाता है।

ये पाँचों भाव भी भाव और द्रव्य के रूप में दो-दो प्रकार के होते हैं। इनमें भावमिथ्यात्वादि आत्मा के विकारी परिणाम हैं और द्रव्यमिथ्यात्वादि कार्माण वर्गणा के कर्मरूप परिणमन हैं।

शरीरादि संयोगों के समान ये आस्रवभाव भी अनित्य हैं, अशरण हैं, अशुचि हैं, आत्मस्वभाव से अन्य हैं, चतुर्गति में संसरण (परिभ्रमण) के हेतु हैं, दुःखरूप हैं, दुःख के हेतु हैं, जड़ हैं। इनसे भिन्न ज्ञानादि अनन्त गुणों का अखण्डपिण्ड भगवान आत्मा नित्य है, परमशरणभूत है, संसारपरिभ्रमण से रहित, परमपवित्र, आनन्द का कन्द है और अतीन्द्रियानन्द की प्राप्ति का हेतु भी है। - इसप्रकार का चिन्तन ही आस्रवभावना है।

इस संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

"णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥
जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं॥[१]

आस्रवों की अशुचिता, विपरीतता एवं दु:खकारणता जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

जीव से निबद्ध ये आस्रव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दु:खरूप हैं और दु:खरूप ही फलते हैं - यह जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्त होता है।"

उक्त कथन को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र 'आत्मख्याति' में लिखते हैं -

"जिसप्रकार जल में सेवाल (काई) जल के मैल के रूप में उपलब्ध होता है, उसीप्रकार आस्रवभाव भी आत्मा में मैल के रूप में ही उपलब्ध होते हैं; इसलिए वे अशुचि हैं, अपवित्र हैं। तथा भगवान आत्मा सदा ही अत्यन्त निर्मल चैतन्यमात्र भाव से उपलब्ध होता है; अत: अत्यन्त शुचि है, परमपवित्र है।

जड़स्वभाववाले होने से आस्रवभाव दूसरों के द्वारा जाने जाते हैं; अत: वे चैतन्य (आत्मा) से अन्यस्वभाववाले हैं और भगवान आत्मा सदा ही विज्ञानघनस्वभाववाला होने से स्वयं को जानता है; अत: चैतन्य से अनन्य है।

आकुलता उत्पन्न करनेवाले होने से आस्रव दु:ख के कारण हैं और भगवान आत्मा निराकुलस्वभावी होने के कारण न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण है; अत: दु:ख का अकारण ही है।[२]

वृक्ष और लाख की भाँति वध्य-घातकस्वभाववाले होने से जीव के साथ निबद्ध होने पर भी अविरुद्धस्वभाव का अभाव होने से आस्रवभाव जीव नहीं हैं।

---

१. समयसार गाथा ७२ व ७४
२. समयसार गाथा ७२ की टीका (हिन्दी अनुवाद)

मृगी के वेग की भाँति घटते-बढ़ते होने से आस्रव अध्रुव हैं, पर चैतन्यमात्र जीव ध्रुव है। शीत-दाह ज्वर के आवेश की भाँति अनुक्रम से उत्पन्न होने के कारण आस्रवभाव अनित्य हैं और विज्ञानघनस्वभावी जीव नित्य है।

जिसप्रकार वीर्यस्खलन के साथ दारुण कामसंस्कार नष्ट हो जाता है, किसी से रोका नहीं जा सकता; उसीप्रकार कर्मोदय समाप्त होने के साथ ही आस्रव नाश को प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें रोकना संभव नहीं है; अतः आस्रव अशरण हैं; किन्तु स्वयंरचित चित्शक्तिरूप जीव शरण सहित है।

आकुलस्वभाववाले होने से आस्रव दुःखरूप है और निराकुलस्वभाववाला होने से आत्मा सुखरूप है। भविष्य में आकुलता उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणाम (कर्मबंध) के हेतु होने से आस्रव दुःखफलरूप हैं और समस्त पुद्गलपरिणाम का अहेतु होने से आत्मा सुखफलरूप हैं।[१]''

समयसार और आत्मख्याति के उक्त कथन में जहाँ एक ओर आस्रवभावों को अध्रुव, अनित्य, अशरण, अशुचि, जड़, दुःखरूप एवं दुःख के कारण बताया गया है तो दूसरी ओर भगवान आत्मा को ध्रुव, नित्य, परमशरणभूत, परमपवित्र, चेतन, सुखस्वरूप एवं सुख का कारण बताया गया है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का एकमात्र उद्देश्य 'आस्रवभाव - मोह-राग-द्वेषरूप विकारीभाव हेय हैं और संयोग तथा संयोगीभावों से भिन्न भगवान आत्मा परम-उपादेय है' - यह बताना है।

'मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव आत्मा के स्वभावभाव नहीं; विभाव हैं, संयोगीभाव हैं। भगवान आत्मा उनसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी है।' - यह बात बुद्धि के स्तर पर ख्याल में आ जाने पर अज्ञानीजनों का मिथ्यात्व से ग्रस्त चित्त इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाता; फलतः मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों से उनका एकत्व-ममत्व बना ही रहता है।

यद्यपि ज्ञानीजनों का एकत्व-ममत्व मोह-राग-द्वेषरूप भावों से नहीं होता; तथापि तज्जन्य विकल्पतरंगें उनके भी भूमिकानुसार उठा ही करती हैं,

१. समयसार गाथा ७४ की टीका (हिन्दी अनुवाद)

राग-द्वेष उत्पन्न होते ही रहते हैं। उक्त राग-द्वेष और विकल्पतरंगों के शमन के लिए ज्ञानीजनों को एवं आस्रवभावों से एकत्व-ममत्व तोड़ने के लिए अज्ञानीजनों को भी आस्रवभावों की अध्रुवता, अनित्यता, अशरणता, अशुचिता, जड़ता, दु:खरूपता एवं दु:खकारणता तथा आत्मा की ध्रुवता, नित्यता, शरणभूतता, चेतनता, पवित्रता, सुखरूपता एवं सुख के कारणरूपता का विचार-चिन्तन-मनन निरन्तर करते रहना चाहिए।

मोह-राग-द्वेषरूप भाव आस्रवतत्त्व हैं और उनके संदर्भ में निरन्तर किया जानेवाला उक्त चिन्तन आस्रवभावना है।

ध्यान रहे आस्रवभावना आस्रवतत्त्व नहीं, संवरतत्त्व है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में बारहभावनाओं का वर्णन संवरतत्त्व के प्रकरण में आता है। वहाँ अनुप्रेक्षाओं को संवर के कारणों में गिनाया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र में उक्त कथन मूलत: इसप्रकार है -

"**आस्रवनिरोध: संवर:। स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रै:।**[१]

आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं। वह संवर तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषहजय और पाँच प्रकार के चारित्र से होता है।"

बारह भावनाओं के चिन्तन का मूल प्रयोजन पर और विकार से भिन्न निज भगवान आत्मा में ही रमणता की तीव्र रुचि उत्पन्न करना है, तत्संबंधी पुरुषार्थ को विशेष जागृत करना है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनित्य से लेकर अशुचिभावना तक संयोगों की अनित्यता, अशरणता, असारता, भिन्नता, अशुचिता का चिन्तन किया जाता है; इस बात का विचार किया जाता है कि ये संयोग मात्र संयोग हैं, आत्मा के सुख-दु:ख में साथ देनेवाले नहीं हैं।

चूँकि संयोग पररूप ही होते हैं; अत: उक्त छह भावनाओं में विशेष कर पर की पृथकता का ही वैराग्यपरक चिन्तन होता है; किन्तु आस्रवभावना में विभाव की विपरीतता का चिन्तन मुख्य होता है।

१, तत्त्वार्थसूत्र; अध्याय ९, सूत्र १ व २

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनित्यादि छह भावनाओं के चिन्तन की विषयवस्तु शरीरादि संयोग हैं और आस्रवभावना के चिन्तन की विषयवस्तु संयोगीभाव हैं।

परसंयोग से या पर के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव ही संयोगीभाव हैं, विभाव हैं और वे आत्मस्वभाव से विपरीत हैं। उनकी इस विपरीतता को ही समयसार और आत्मख्याति के उक्त कथनों में अनेक हेतुओं से सोदाहरण समझाया गया है।

आस्रवभावों की विपरीतता भी तो आत्मस्वभाव से ही सिद्ध करना है; अत: जिन बिन्दुओं से आस्रव का स्वरूप स्पष्ट करते हैं, साथ में उन्हीं बिन्दुओं से आत्मस्वभाव का स्पष्टीकरण भी सहज आवश्यक हो जाता है; अत: कहा जाता है कि आत्मा नित्य है, आस्रव अनित्य हैं; आत्मा ध्रुव है, आस्रव अध्रुव हैं; आत्मा परमशरण है, आस्रव अशरण हैं; आत्मा चेतन है, आस्रव जड़ हैं; आत्मा सुखस्वरूप है, आस्रव दु:खस्वरूप हैं; आत्मा सुख का कारण है, आस्रव दु:ख के कारण हैं।

इसप्रकार यद्यपि ये आस्रवभाव आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं, आत्मा से निबद्ध हैं; तथापि आत्मस्वभाव से अन्य हैं, विपरीतस्वभाववाले हैं; अत: हेय हैं; श्रद्धेय नहीं, ध्येय नहीं, उपादेय भी नहीं, मात्र ज्ञान के ज्ञेय हैं; और आस्रवभावों से अन्य यह भगवान आत्मा परमज्ञेय है, परमश्रद्धेय है, परमध्येय है,परम-उपादेय है।

- इसप्रकार का सतत् चिंतन ही आस्रवभावना है।

मात्र आस्रव के कारणों का, भेद-प्रभेदों का विचार करते रहना आस्रवभावना नहीं है। आस्रवभावना में आस्रवों के स्वरूप के साथ-साथ जिस आत्मा की पर्याय में ये मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव उत्पन्न होते हैं, फिर भी जो आत्मा इन मोह-राग-द्वेष भावों से भिन्न है, परमपवित्र है, ध्रुव है; उस आत्मा का भी विचार होता है, चिंतन होता है। उसके साथ-साथ आस्रवभावों का भी चिन्तन इसप्रकार होता है कि जिससे आस्रवभावों से विरक्ति एवं

आत्मस्वभाव में अनुरक्ति उत्पन्न हो; क्योंकि आस्रवभावना के चिंतन का उद्देश्य आस्रवों का निरोध है, आस्रवभाव का अभाव करना है, उन्हें जड़मूल से उखाड़ फेंकना है।

आस्रवभावों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए यह आवश्यक है कि हम सम्पूर्ण आस्रवों को हेय जानें, सम्पूर्णतः हेय मानें; चाहे वे पापास्रव हों, चाहे पुण्यास्रव; चाहे अशुभास्रव हों, चाहे शुभास्रव। शुभ से शुभ आस्रव के प्रति मोह (उपादेयबुद्धि) मिथ्यात्व नामक अशुभतम आस्रव है। तीर्थंकर नामकर्म का बंध करनेवाले शुभतम भावों में भी यदि उपादेयबुद्धि रहती है तो वह अनन्तसंसार का कारणरूप मिथ्यात्व नामक अशुभतम आस्रवभाव है।

इस सन्दर्भ में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के विचार भी द्रष्टव्य हैं –

"हाड़, मांस, चमड़ा आदिमय शरीर अशुचि है – यह बात तो दूर ही रही तथा पापभाव अशुचि हैं, अपवित्र हैं-यह भी सभी कहते हैं; पर यहाँ तो यह कहते हैं कि दया, दान, व्रत आदिरूप जो पुण्यभाव हैं; वे भी अशुचि हैं, अपवित्र हैं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह भाव भी मलिन है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

यह बात शुभभावों में धर्म माननेवाले अज्ञानियों को कठिन लगती है, अटपटी लगती है, बुरी लगती है; परन्तु स्वरूप के रसिक-आस्वादी ज्ञानी पुरुष तो शुभभावों को-पुण्यभावों को मलिन ही जानते हैं, इसकारण हेय मानते हैं।

राग की चाहे जितनी मन्दता का शुभपरिणाम क्यों न हो, तथापि वह मैल है, अशुचि है, जहररूप है। शास्त्र में पुण्यभाव को किसी जगह व्यवहार से अमृतरूप भी कहा है, तथापि वह वास्तव में तो जहर ही है। अमृत का सागर तो एकमात्र भगवान आत्मा है-जिनको अन्दर में ऐसा भान हुआ हो, स्वाद आया हो; उन धर्मी जीवों को आत्मा के भानपूर्वक जो राग की मन्दता का परिणाम होता है, उस आत्मभान का आरोप करके साथ में होनेवाले शुभराग को व्यवहार से अमृत कह दिया गया है; तथापि निश्चय से तो जहर ही है, अशुचि है, अपवित्र है।[१]"

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ३, पृष्ठ ५६

आस्रवभावना में आस्रवों के भेद-प्रभेदों के विस्तार में जाने की अपेक्षा आस्रवों के हेयत्व का चिन्तन अधिक आवश्यक है, अधिक उपयोगी है और आस्रवों से भिन्न भगवान आत्मा के उपादेयत्व का चिंतन उससे भी अधिक आवश्यक है, उससे भी अधिक उपयोगी है।

उपलब्ध बारह भावनाओं में लगभग सर्वत्र ही उक्त भाव उपलब्ध होता है। उक्त संदर्भ में पंडित श्री जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना का निम्नांकित छंद द्रष्टव्य है -

"आतम केवल ज्ञानमय, निश्चयदृष्टि निहार।
सब विभाव परिणाममय, आस्रवभाव विडार॥

निश्चयदृष्टि से देखें तो भगवान आत्मा तो मात्र ज्ञानमय है, विभावपरिणामरूप समस्त आस्रवभाव उसमें हैं ही नहीं। ज्ञानमय आत्मस्वभाव के अज्ञान के कारण पर्याय में जो विभावपरिणामरूप आस्रवभाव उत्पन्न हो रहे हैं, वे सब विडारने योग्य हैं, हेय हैं।"

ब्र. चुन्नीभाई देसाई कृत बारह भावना में समागत आस्रवभावना संबंधी निम्नांकित छन्द भी द्रष्टव्य हैं -

"पूर्वकथित मिथ्यात्व आदि जे आस्रवभेद बखाने।
निश्चय सो आतम के नाहीं यों चिंतन उर आने॥
द्रव्य और भावास्रव सों है भिन्न आतमा मेरा।
बारम्बार भावना भावै मिटै सकल जग फेरा॥"

इसीप्रकार का भाव श्री नथमलजी बिलाला कृत बारह भावना में उपलब्ध होता है, जो इसप्रकार है -

"आस्रव तें प्राणी संसार विषैं भ्रमै।
उदधि विषैं जिमि काठ नाहिं थिरता पमैं॥
यातैं आस्रव सकल पूर तज दीजिए।
अविनाशी चिद्रूप ताहि भज लीजिए॥

जिसप्रकार सागर की हिलोरों में डोलता काठ का टुकड़ा स्थिरता प्राप्त नहीं कर पाता है; उसीप्रकार यह प्राणी आस्रवों के कारण भवसागर में घूमता

ही रहता है, कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं कर पाता है; अतः संपूर्ण शुभाशुभ आस्रवों को पूर्णतः त्याग दीजिए और चैतन्यस्वरूप अविनाशी निज आत्मा को भज लीजिए अर्थात् चैतन्यस्वरूप अविनाशी निज आत्मा का ही ध्यान कीजिए - इसी में सार है।"

आस्रवभावना सम्बन्धी उक्त कथन यद्यपि अति संक्षेप में हैं, एक-एक छन्द में ही हैं; तथापि उनमें आस्रवभावों की हेयता और आत्मस्वभाव की उपादेयता का निर्देश अवश्य है।

आत्मस्वभाव के आश्रयपूर्वक शुभाशुभभावरूप आस्रवभावों से मुक्त होना ही आस्रवानुप्रेक्षा के चिन्तन का वास्तविक फल है।

स्वामी कार्तिकेय कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखते हैं -

"एदे मोहयभावा, जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो।
हेयं ति मण्णमाणो, आसव अणुपेहणं तस्स ॥९४॥
एवं जाणंतो वि हु, परिचयणीये वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुवेक्खा, सव्वा वि णिरत्थया होदि ॥९३॥

जो पुरुष उपशम परिणामों में लीन होकर पूर्वकथित मिथ्यात्वादिभावों को हेय मानता हुआ छोड़ता है, उसके ही आस्रवभावना होती है।

इसप्रकार जानता हुआ भी जो त्यागने योग्य परिणामों को नहीं छोड़ता है, उसका आस्रवभावना संबंधी सम्पूर्ण चिंतन निरर्थक है।"

उक्त कथन से अत्यन्त स्पष्ट है कि आस्रवभावना के चिंतन की सार्थकता आस्रवभावों को हेय जानकर, हेय मानकर त्याग देने में ही है।

अशुभास्रवरूप पापास्रवों को तो सम्पूर्ण जगत सहजरूप से हेय स्वीकार कर लेता है; परन्तु शुभास्रवरूप पुण्यास्रव भी हेय हैं - यह बात सामान्यजनों को आसानी से गले नहीं उतरती। उन्हें यह विकल्प बना ही रहता है कि शुभ और अशुभ अथवा पुण्य और पाप समानरूप से हेय कैसे हो सकते हैं? उनका अंतरंग शुभास्रव-पुण्यास्रव को सहजरूप से हेय स्वीकार नहीं कर पाता है।

ऐसे जीवों को समझाते हुए कविवर पंडित बनारसीदासजी लिखते हैं -

"सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभस्वरूप मूल-
वस्तु के विचारत दुविध कर्मरोग है॥
ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरम में करम त्याग-जोग है।
भौजल तरैया राग-द्वेष कौ हरैया महा-
मोख को करैया एक सुद्ध उपयोग है॥[१]"

उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि चाहे शील, तप, संयम, व्रत, दान और पूजन आदि का शुभराग हो अथवा असंयम, कषाय और विषयभोग आदि का अशुभराग हो; मूलवस्तु के विचार करने पर शुभ और अशुभ-दोनों ही प्रकार के भाव कर्मरूपी रोग ही हैं, कर्मबंध के कारण ही हैं, मोक्ष के कारण नहीं।

वीतरागी सर्वज्ञ भगवान ने कर्मों के आस्रव और बंध की पद्धति इसीप्रकार बताई है; अतः आत्महितकारी धर्म में शुभ और अशुभ सभी कर्म समानरूप से त्यागने योग्य ही हैं।

संसारसागर से पार उतारनेवाला, राग-द्वेष को हरनेवाला और अनन्तसुखमय महान मोक्ष का करनेवाला तो एकमात्र शुद्धोपयोग ही है, शुभ और अशुभभावरूप अशुद्धोपयोग नहीं।

उक्त सन्दर्भ में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

"आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं, उन्हें हेय जानता है; अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं, उन्हें उपादेय मानता है; परन्तु यह तो दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है। वही समयसार के बन्धाधिकार में कहा है -

---

१. समयसार नाटक; पुण्य-पाप एकत्व द्वार, छन्द ७

सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दु:ख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीव के इन कार्यों का कर्त्ता हो, वह मिथ्याध्यवसाय बन्ध का कारण है। वहाँ अन्य जीवों को जिलाने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय हो, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है और मारने का अथवा दु:खी करने का अध्यवसाय हो, वह पापबन्ध का कारण है।

इसप्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबंध के कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबन्ध के कारण है। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं; इसलिए हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बन्ध का कारण जानकर हेय ही मानना।

हिंसा में मारने की बुद्धि हो; परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी द्वेषपरिणति से आप ही पाप बाँधता है। अहिंसा में रक्षा करने की बुद्धि हो; परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह नहीं जीता है, यह अपनी प्रशस्त रागपरिणति से आप ही पुण्य बाँधता है। इसप्रकार यह दोनों हेय हैं; जहाँ वीतराग होकर ज्ञाता-दृष्टारूप प्रवर्त्ते, वहाँ निर्बन्ध है; सो उपादेय है।

सो जबतक ऐसी दशा न हो, तबतक प्रशस्तरागरूप प्रवर्त्तन करो; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्ध का कारण है, हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।[१]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि बन्ध के हेतु होने से पापास्रव के समान पुण्यास्रव भी हेय ही हैं।

यद्यपि आस्रवभावना में पुण्य और पाप - दोनों प्रकार के आस्रवों की हेयता का चिन्तन किया जाता है; तथापि गहराई में जाकर विचार करें तो पापास्रवों की अपेक्षा पुण्यास्रवों की हेयता का अधिक विचार करना ही वास्तविक आस्रवभावना है; क्योंकि पापभावों को तो सभी हेय जानते हैं, मानते हैं, कहते भी हैं; ज्ञानीजन तो वे हैं, जिन्हें पुण्यभाव भी हेय प्रतिभासित हों। मुख्यरूप से जिन मुनिराजों के ये भावनाएँ होती हैं, उनके तो प्राय: पापभाव

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२६

होते ही नहीं हैं। जिनके पापभाव हैं ही नहीं, वे उनके हेयत्व के चिन्तन में बहुमूल्य समय क्यों बर्बाद करेंगे ?

योगसार में कहा है -

"जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्व इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ॥[१]

पाप को पाप तो सारा जगत जानता है; ज्ञानी तो वह है, जो पुण्य को भी पाप जाने। तात्पर्य यह है कि जो पापास्रव के समान पुण्यास्रव को भी हेय मानता है, वही ज्ञानी है।"

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि अनुशीलन तो आस्रवभावना का चल रहा है, इसमें पुण्य-पाप की बात बीच में कहाँ से आ टपकी ?

भाई! इसमें विषयान्तर नहीं है, क्योंकि भावास्रव और द्रव्यास्रव के समान पुण्यास्रव और पापास्रव भी आस्रव के ही भेद हैं, आस्रव के ही प्रकार हैं।

आस्रव के सभी प्रकारों की चर्चा यदि आस्रव की चर्चा के साथ नहीं हुई तो कहाँ होगी?

पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि आरंभ की छह भावनाएँ मुख्यरूप से वैराग्यपरक हैं और अन्त की छह भावनाओं की चिन्तनधारा मुख्यरूप से तत्त्वपरक होती है। आस्रवभावना में आस्रवतत्त्व के साथ-साथ बंधतत्त्व और पुण्य-पाप तत्त्वों की चर्चा भी अपेक्षित है, क्योंकि बंधभावना या पुण्य-पापभावना नाम की कोई स्वतंत्र भावना नहीं है; अतः आस्रवभावना में पुण्य-पाप और बंध संबंधी चिन्तन होना स्वाभाविक ही है।

दूसरी बात यह भी तो है कि पुण्य-पाप और बंध को छोड़कर अकेले आस्रव का चिन्तन संभव ही नहीं है; क्योंकि भावास्रव और भावबंध में विशेष अन्तर ही क्या है? जिन मोह-राग-द्वेष भावों को भावास्रव कहते हैं; उन्हीं को भावबंध भी कहा जाता है। यह मोह-राग-द्वेष भाव ही पुण्य-पाप बंध के

---

१. जोइन्दु : योगसार, दूहा ७१

कारण हैं। पुण्य-पाप और आस्रव-बंध परस्पर इसप्रकार अनुस्यूत हैं कि उनका संपूर्णत: पृथक्-पृथक् चिन्तन करना सहजसाध्य नहीं है।

विरागी विवेकियों की प्रवृत्ति सहजसाध्य कार्यों में ही देखी जाती है, मुक्तिमार्ग भी सहजसाध्य ही है; अत: ज्ञानीजनों का चिन्तन भी सहजसाध्य ही होता है।

प्रश्न : पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध तत्त्वों का चिन्तन तो आस्रवभावना में होता है; पर जीव और अजीव तत्त्व का चिन्तन कौन-सी भावना में होगा? क्योंकि आस्रव, बंध, पुण्य और पाप के पहले जीव-अजीव तत्त्वों का चिंतन भी तो होना चाहिए।

उत्तर : जीव का चिन्तन तो सभी भावनाओं में समानरूप से चलता ही है, चिन्तन का मूल आधार तो वही है। आस्रवभावना में भी इसका चिन्तन होता है - यह स्पष्ट किया ही जा चुका है।

'जीव नित्य है, आस्रव अनित्य हैं; जीव ध्रुव है, आस्रव अध्रुव हैं; जीव सशरण है, आस्रव अशरण हैं; जीव शुचि है, आस्रव अशुचि हैं; जीव चेतन है, आस्रव जड़ हैं, जीव सुखस्वरूप है, आस्रव दु:खस्वरूप हैं; जीव सुख का कारण है, आस्रव दु:ख के कारण हैं।' - उक्त कथन में आस्रव के साथ जीव का भी चिन्तन आया ही है।

आरम्भ की छह भावनाओं में शरीरादि अजीवों से जीव की भिन्नता बताई है और यहाँ आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप से भिन्नता बताई जा रही है। शरीर अनित्य है, अशरण है, असार है, अशुचि है, जीव से भिन्न है और जीव शरीर से भिन्न है, ध्रुव है, परमशरण है, सार है, शुचि है -यह सब जीव-अजीव तत्त्वों का ही तो चिन्तन है।

भेदविज्ञान की दृष्टि से इन भावनाओं की चिन्तनप्रक्रिया का भी संकेत पहले किया जा चुका है। आरंभ की छह भावनाओं में अजीव से जीव का भेदज्ञान कराया गया है और इस आस्रवभावना में आस्रव, बंध, पुण्य और पाप से भेदज्ञान कराया जा रहा है।

यही कारण है कि आस्रवभावना में द्रव्यास्रव की अपेक्षा भावास्रव के चिन्तन की प्रधानता रहती है।

अजीव, आस्रव, बंध, पुण्य, पाप से भिन्न भगवान आत्मा की आराधना, साधना ही संवर है, निर्जरा है; जिनकी विस्तृत चर्चा आगे संवर-निर्जरा भावनाओं में होगी ही।

पुण्य-पापरूप मोह-राग-द्वेष भावों से भगवान आत्मा की भिन्नता की सम्यक् जानकारी बिना अनादिकालीन अज्ञान दूर नहीं होता और कर्मों का आस्रव भी नहीं रुकता।

समयसार में तो यहाँ तक कहा है -

"जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।
अण्णाणी तावदु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो॥
कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं॥
जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से॥[१]

जबतक यह जीव आत्मा और आस्रव - इन दोनों में परस्पर अन्तर और भेद नहीं जानता है; तबतक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादिकरूप आस्रवभावों में ही प्रवर्तित रहता है।

क्रोधादिक में प्रवर्तमान जीव के कर्मों का संचय होता है। जीव को कर्मबंधन की प्रक्रिया सर्वज्ञदेव ने इसीप्रकार बताई है।

जब यह जीव आत्मा और आस्रवों का अन्तर और भेद जानता है, तब उसे बंध नहीं होता।"

अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम आत्मा और आत्मा की ही पर्याय में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप-पुण्य-पापरूप आस्रवभावों की परस्पर भिन्नता भली-भाँति जानें, भली-भाँति पहिचानें तथा आत्मा के उपादेयत्व एवं आस्रवों

१. समयसार गाथा ६९-७०-७१

के हेयत्व का निरन्तर चिन्तन करें, विचार करें; क्योंकि निरन्तर किया हुआ यही चिन्तन, यही विचार आस्रवभावना है।

ध्यान रहे उक्त चिन्तन, विचार तो आस्रवभावना का व्यावहारिकरूप है अर्थात् यह तो व्यवहार-आस्रवभावना है। निश्चय-आस्रवभावना तो आस्रवभावों से भिन्न भगवान आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान व ध्यानरूप परिणमन है।

यह आस्रवभावना स्वयं संवररूप होने से आस्रवभावों की निरोधक और वीतरागभावों की उत्पादक है।

आस्रवभावों की निरोधक एवं वीतरागभावों की उत्पादक इस आस्रवभावना का निरन्तर चिन्तन कर आस्रवभावों से भिन्न भगवान आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप परिणमन कर सम्पूर्ण जगत वीतरागी सुखशान्ति को प्राप्त करें - इस पावन भावना से विराम लेता हूँ। ●

स्वभाव के सामर्थ्य को देख!

देह में विराजमान, पर देह से भिन्न एक चेतनतत्त्व है। यद्यपि उस चेतनतत्त्व में मोह-राग-द्वेष की विकारी तरंगें उठती रहती है, तथापि वह ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्व उनसे भिन्न परमपदार्थ है, जिसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। उस प्रगट होने वाले धर्म को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा अन्तर में प्रगट हो, इसके लिए परमपदार्थ ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्व की अनुभूति अत्यन्त आवश्यक हैं। उस अनुभूति को ही आत्मानुभूति कहते हैं। वह आत्मानुभूति जिसे प्रगट हो गई, 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान जिसे हो गया; वह शीघ्र ही भव-भ्रमण से छूट जायेगा। 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान ही भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान और आत्मानुभूति सिंह जैसी पर्याय में भी उत्पन्न हो सकती है और उत्पन्न होती भी है। अतः हे मृगराज! तुझे इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

हे मृगराज! तू पर्याय की परमात्मा का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य की ओर देख!

- तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ४७

संवरभावना

देहदेवल में रहे पर देह से जो भिन्न है।
है राग जिसमें किन्तु जो उस राग से भी अन्य है॥
गुणभेद से भी भिन्न है पर्याय से भी पार है।
जो साधकों की साधना का एक ही आधार है॥१॥

यह भगवान आत्मा यद्यपि देहरूपी मन्दिर में रहता है, पर देह से भिन्न ही है। इसीप्रकार रागादि विकारीभाव इसमें ही उत्पन्न होते हैं, पर यह उनसे भी भिन्न है। अधिक क्या कहें? अनन्त गुणवाला होने पर भी यह आत्मा गुणभेद से भिन्न एवं निर्मल पर्यायों से भी पार है। साधकों की साधना का एकमात्र आधार भी यही शुद्धात्मा है।

मैं हूँ वही शुद्धात्मा चैतन्य का मार्तण्ड हूँ।
आनन्द का रसकन्द हूँ मैं ज्ञान का घनपिण्ड हूँ॥
मैं ध्येय हूँ श्रद्धेय हूँ मैं ज्ञेय हूँ मैं ज्ञान हूँ।
बस एक ज्ञायकभाव हूँ मैं मैं स्वयं भगवान हूँ॥२॥

ऐसा शुद्धात्मा और कोई नहीं, मैं ही हूँ। चैतन्यरूपी सूर्य, आनन्द का कन्द और ज्ञान का घनपिण्ड आत्मा मैं ही हूँ। मैं ही ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय, परमज्ञान का ज्ञेय हूँ। मात्र ज्ञेय ही नहीं, ज्ञान भी मैं ही हूँ। बस, मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ। अधिक क्या कहूँ? मैं स्वयं भगवान हूँ।

यह जानना पहिचानना ही ज्ञान है श्रद्धान है।
केवल स्वयं की साधना आराधना ही ध्यान है॥
यह ज्ञान यह श्रद्धान बस यह साधना आराधना।
बस यही संवरतत्त्व है, बस यही संवरभावना॥३॥

यह जानना ही सम्यग्ज्ञान है, यह पहिचानना ही सम्यग्दर्शन है और मात्र अपनी साधना अपनी आराधना ही सम्यक्चारित्र है, ध्यान है।

यह ज्ञान-श्रद्धान एवं यही साधना-आराधना ही संवरतत्त्व है और यही संवरभावना भी है।

इस सत्य को पहिचानते वे ही विवेकी धन्य हैं।
ध्रुवधाम के आराधकों की बात ही कुछ अन्य है॥
शुद्धातमा को जानना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥४॥

जो जीव इस सत्य को जानते हैं, पहिचानते हैं; वे ही विवेकी हैं, वे ही धन्य हैं; क्योंकि ध्रुवधाम निज भगवान के आराधकों की बात ही कुछ और होती है, गजब की होती है। संवरभावना का सार शुद्धात्मा को जानना ही है और ध्रुवधाम निज भगवान की आराधना ही आराधना का सार है।

स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी परिपूर्ण तत्व है ही, पर्याय में भी पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसे पर की ओर झांकने की आवश्यकता नहीं। यह स्वयं अपनी भूल से दुःखी है और स्वयं अपनी भूल मेटकर सुखी भी हो सकता है। प्रत्येक आत्मा स्वयं भगवानस्वरूप है और यदि पुरुषार्थ करे तो भगवानस्वरूप आत्मा की अनुभूति करने में भी समर्थ है।

- सत्य की खोज, पृष्ठ २०१

संवरभावना : एक अनुशीलन

मैं ध्येय हूँ श्रद्धेय हूँ मैं ज्ञेय हूँ मैं ज्ञान हूँ।
बस एक ज्ञायकभाव हूँ मैं मैं स्वयं भगवान हूँ॥
यह ज्ञान यह श्रद्धान बस यह साधना आराधना।
बस यही संवरतत्त्व है बस यही संवरभावना॥

"आस्रव का निरोध संवर है। वह संवर तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषहजय और पाँच प्रकार के चारित्र से होता है।[१]"

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के उक्त कथन से एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि संवरभावना और संवरतत्त्व में कारण-कार्य का सम्बन्ध है; क्योंकि उक्त कथन में बारह भावनाओं को संवर के कारणों में गिनाया गया है और संवरभावना भी बारह भावनाओं में एक भावना है।

इसप्रकार यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि संवरभावना कारण है और संवरतत्त्व कार्य है।

यदि कारण-कार्य को अभेददृष्टि से देखें तो संवरभावना और संवरतत्त्व एक ही सिद्ध होते हैं।

जब संवरभावना सम्बन्धी उपलब्ध समग्र चिन्तन पर दृष्टि डालते हैं तो अधिकांशतः यही दिखाई देता है कि संवरभावना में संवर और उसके कारणों का चिन्तन बिना भेदभाव किए समग्ररूप से ही हुआ है।

इस संदर्भ में संवरभावना सम्बन्धी निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

---

१. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र १-२

"निज स्वरूप में लीनता, निश्चयसंवर जानि।
समिति गुप्ति संजम धरम, धरैं पाप की हानि ॥[१]

निश्चयसंवरभावना तो निजस्वरूप में लीनता ही है। व्यवहार से पापनिरोधक गुप्ति, समिति, धर्म, संयमादि को भी संवरभावना कहते हैं।

ज्ञान-विराग विचार के, गोपै मन-वच-काय।
थिर ह्वै अपने आप में, सो संवर सुखदाय ॥[२]

ज्ञान और वैराग्यपरक चिन्तनपूर्वक अपने उपयोग को मन-वचन-काय से हटाकर जो अपने आप में स्थिर होते हैं, उनके संवर या संवरभावना होती है।

गुप्ति समिति वर धर्म धर, अनुप्रेक्षा चित चेत।
परिषहजय चारित्र लहि, यह छह संवर हेत ॥
है संवर सुखमय महा, जहँ 'जग' अघ नहिं लेश।
गुप्ति समिति धर्मादि तैं, करैं न करम प्रवेश ॥[३]

श्रेष्ठ गुप्ति, समिति और धर्म के धारण करने से, अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन से, परिषहजय और चारित्र से संवर होता है अर्थात् ये छह संवर के कारण हैं।

यह संवर महासुखमय है। गुप्ति, समिति व धर्मादिमय होने से इसमें कर्म का प्रवेश एवं पाप लेश भी नहीं है।"

उक्त छन्दों में संवरभावना का जो चिन्तन किया गया है; उसमें चाहे नाममात्र को ही सही, पर संवर के हेतुओं को भी गिनाया गया है तथा संवरभावना के स्वरूप को भी निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। संवर और संवरभावना में भेद न करके संवरभावना को भी 'संवर' शब्द से ही अभिहित किया गया है। 'निश्चय संवर जानि' और 'सो संवर सुखदाय' पदों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है।

---

१. पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना
२. पण्डित दीपचन्दजी कृत बारह भावना
३. बाबू जगमोहनदासजी कृत बारह भावना

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उक्त छन्दों में संवर को 'सुखमय' और 'सुखदाय' कहा गया है।

ध्यान रहे आस्रव का निरोध संवर है। तात्पर्य यह है कि संवर आस्रव की अभावपूर्वक उत्पन्न होनेवाली स्थिति है, दशा है, पर्याय है। - यह बात आरम्भ में ही स्पष्ट हो चुकी है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आस्रव और संवर परस्पर विरोधी भाव हैं; क्योंकि आस्रव दु:खमय और संवर सुखमय, आस्रव दु:खदायक अर्थात् दु:ख का कारण है और संवर सुखदायक अर्थात् सुख का कारण है। इसकारण संवर आस्रव का प्रतिद्वन्द्वी है, निषेधक है; उसका अभाव करके उत्पन्न होनेवाला पराक्रमी सज्जनोत्तम योद्धा है, अनन्त आनन्ददायक है, वन्दनीय है, अभिनन्दनीय है। संवर का वेष धारण किये सम्यग्ज्ञान की वन्दना करते हुए पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं -

"आतम कौ अहित अध्यातम रहित ऐसो,
आस्रव महातम अखण्ड अंडवत है।
ताकौ विसतार गिलिबे कौ परगट भयौ,
ब्रह्मंड कौ विकास ब्रहमंडवत है॥
जामैं सब रूप जो सब में सब रूप सौं पै,
सबनि सौं अलिप्त आकास-खंडवत है।
सोहै ग्यानभान सुद्ध संवर कौ भेस धरै,
ताकी रुचि-रेख कौं हमारी दण्डवत है॥[१]

अध्यात्म (आत्मज्ञान) से रहित, आत्मा का अहित करनेवाला आस्रवभाव महा अन्धकार अखण्ड अण्डे के समान जगत को घेरे हुए है। उसके विस्तार को समाप्त करने के लिए या सीमित करने के लिए जग-विकासी सूर्य के समान जिसका प्रकाश है और जिसमें सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं अथवा वह स्वयं उन सब पदार्थों के आकाररूप होता है, फिर भी आकाश के प्रदेशों के समान उनसे अलिप्त रहता है। शुद्ध संवर का वेष धारण किए वह ज्ञानरूपी सूर्य शोभायमान हो रहा है, उसकी प्रभा को हमारा अष्टांग नमस्कार (दण्डवत) है।"

१. समयसार नाटक : संवर द्वार, छन्द २

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि आस्रवभावना के निरूपण में आस्रव को दु:खरूप और दु:ख का कारण बताया गया था और उसके विरुद्ध आत्मा को सुखरूप और सुख का कारण बताया था; पर यहाँ आस्रव के विरुद्ध संवर को सुखरूप और सुख का कारण बताया जा रहा है।

आत्मा स्वभाव से ही सुखरूप है और उसके आस्रय से सुख की उत्पत्ति होती है; अत: वह सुख का कारण भी है। - आस्रवभावना में यह बताया गया था और यहाँ यह बता रहे हैं कि सुखस्वभावी आत्मा के आश्रय से मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर जो अनाकुल आनन्द उत्पन्न होता है, वही संवर है; अत: संवर सुखरूप है तथा मोह-राग-द्वेष के अभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन ही संवर है। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन मोक्षमार्ग होने से सुख का कारण भी है।

आस्रवभावना में मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों के विरुद्ध, मोह-राग-द्वेष परिणामों से भिन्न आत्मस्वभाव की त्रिकाली सुखमयता और सुखकारणता की बात थी और यहाँ संवरभावना में मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों के विरुद्ध उनके अभावपूर्वक उत्पन्न होनेवाले वीतरागभावरूप संवर की सुखरूपता और सुखकारणता की बात है।

संवर की सुखरूपता सुखकारणता व्यक्त है, मोक्षमार्गरूप है और त्रिकाली आत्मा की सुखरूपता और सुखकारणता शक्तिरूप है।

प्रश्न : जब संवरभावना के उपलब्ध चिंतन में अधिकांश चिन्तन संवरतत्त्व और संवरभावना को एक मानकर ही हुआ है तो फिर दोनों को एक ही क्यों न मान लिया जाए?

उत्तर : यह ठीक नहीं है; क्योंकि इससे संवरभावना के चिन्तन की विषयवस्तु का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जायगा, उसकी सीमा में समग्र मोक्षमार्ग ही समाहित हो जायगा।

ध्यान रहे संवरभावना संवर के अनेक कारणों में से मात्र एक कारण है।

संवरतत्त्व के विश्लेषण में संवर के सभी कारणों पर विस्तृत प्रकाश डाला जा सकता है, जैसाकि तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में किया गया है; पर संवरभावना में उन सबकी विस्तृत चर्चा करना निश्चितरूप से सीमा का उल्लघंन होगा।

संवर के कारणों में तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह भावनाएँ, बाईस परीषहजय एवं पाँच प्रकार का चारित्र सभी आ जाते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी संवर के कारण या संवररूप ही हैं।

इसप्रकार संवर की चर्चा में सम्पूर्ण मुक्ति का मार्ग ही समाहित हो जाता है; पर क्या संवरभावना में सभी का चिन्तन समाहित है?

नहीं, कदापि नहीं; संवरभावना के चिन्तन की अपनी सीमाएँ हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो फिर मुक्तिमार्ग सम्बन्धी सम्पूर्ण चिन्तन एक संवरभावना में ही समाहित हो जावेगा। ध्यान रहे संवर के कारणों में गुप्ति, समिति, धर्म आदि के साथ बारह भावनाएँ भी हैं। इसप्रकार तो संवरभावना में ही शेष ग्यारह भावनाएँ भी गर्भित हो जावेंगी, उनका पृथक् अस्तित्व ही संभव न होगा, जो किसी भी स्थिति में उचित नहीं होगा।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि संवरभावना के चिन्तन में संवर के कारणों के विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं है, उनका संक्षिप्तोल्लेख ही पर्याप्त है।

इसीप्रकार की प्रवृत्ति उपलब्ध बारह भावना साहित्य में देखने में भी आती है।

संवरभावना की चिन्तनप्रक्रिया में भेदविज्ञान और आत्मानुभूति की मुख्यता है; गुप्ति, समिति आदि भेद-प्रभेदों के विस्तार में जाने की नहीं। जैसा कि निम्नांकित उल्लेखों से स्पष्ट है -

"जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥[१]

जिन्होंने पुण्य-पापरूप आस्रवभावों को न करके आत्मा के अनुभव में चित्त को लगाया है; उन्होंने ही आते हुए द्रव्यकर्मों को रोक दिया है। इसप्रकार

---

१. पण्डित दौलतरामजी : छहढाला; पंचम ढाल, छन्द १०

द्रव्यास्रव व भावास्रव के अभावपूर्वक जिन्होंने द्रव्य संवर व भाव संवर प्राप्त किया है; उन्हीं ने सुख देखा है अर्थात् सुख प्राप्त किया है।''

उक्त छन्द में आत्मानुभव को ही संवर कहा गया है। आत्मानुभव या आत्मानुभव की भावना ही वास्तविक संवरभावना है। आत्मानुभव भेदविज्ञानपूर्वक होता है; अतः आत्मानुभव के साथ भेदविज्ञान की भावना भी संवरभावना में भरपूर की जाती है और विशेषरूप से की जानी चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र तो यहाँ तक कहते हैं -

''संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्॥[१]

शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से ही साक्षात् संवर होता है और शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है; इसलिए वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है - भावना करने योग्य है।''

और भी देखिए -

''भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥[२]

आजतक जितने भी जीव सिद्ध दशा को प्राप्त हुए हैं, वे सब भेद-विज्ञान से ही हुए हैं और जो जीव संसार में बँधे हैं, कर्मों से बँधे हैं; वे सब इस भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हुए हैं।''

संवर की महिमा बताते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

''भेदविज्ञान कला प्रगटै, तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही।
राग-द्वेष-विमोह सबहि गल जाँय इमै दुठ कर्म रुकाहीं॥
उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातम माहीं।
यों मुनिराज भली विधि धारतु केवल पाय सुखी शिव जाहीं॥[३]

---

१. समयसार, कलश १२९
२. समयसार, कलश १३१
३. समयसार, पृष्ठ ३१८

जब भेदविज्ञान की कला प्रगट होती है, तब जीव अपना शुद्धस्वभाव प्राप्त करता है और तभी सभी राग-द्वेष-मोह गल जाते हैं और दुष्कर्म आने से रुक जाते हैं; उज्ज्वल ज्ञान का प्रकाश होता है और शुद्धात्मा में परमसंतोष प्राप्त होता है। इसप्रकार मुनिराज उत्तम विधि को धारण कर केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं और अनन्तसुखी होकर मोक्ष में चले जाते हैं।''

शाश्वत अतीन्द्रिय आनन्द की उपलब्धि में भेदविज्ञान के योगदान की चर्चा करते हुए कविवर पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं -

''प्रगटि भेदविज्ञान, आपगुन परगुन जाने।
पर परनति परित्याग, शुद्ध अनुभौ थिति ठानै।
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै॥
छय करि विभाव समभाव भजि, निरविकलप निज पद गहै।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर, परम अतीन्द्रिय सुख लहै॥[१]

भेदविज्ञान प्रगट होने पर अपने और पराये की पहिचान हो जाती है; अत: वह भेदविज्ञानी जीव परपरणति का परित्याग करके शुद्धात्मा के अनुभव में स्थिरता करता है, अभ्यास करता है। अभ्यास के द्वारा आस्रव के द्वारों का निरोध कर संवर को प्रकाशित करता है। कर्मजन्य घने अंधकार का नाश करता है; विभावों का नाश कर समभाव को भजकर निर्विकल्प निजपद को प्राप्त कर निर्मल, विशुद्ध, शाश्वत, स्थिर, अतीन्द्रिय परमानन्द को प्राप्त करता है।''

धर्म का आरंभ संवर से ही होता है; क्योंकि मिथ्यात्व नामक महापाप का निरोधक, मिथ्याज्ञानांधकार का नाशक एवं अनन्तानुबन्धी कषाय का विनाशक संवर ही है।

जब भी किसी जीव को धर्म का आरंभ होता है, तब सबसे प्रथम मिथ्यात्व, अज्ञान और अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी असंयम के अभाव-पूर्वक ही होता

---

१. समयसार नाटक; संवर द्वार, छन्द ११

है। मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम आस्रवभाव हैं - इन्हें यदि एक नाम से कहना हो तो रागभाव नाम से कहा जाता है।

इसप्रकार रागभाव आस्रव हैं और इनके अभाव में होनेवाला वीतरागभाव संवर है। यह संवर ही मुक्तिमार्ग का आरंभिक प्रवेश-द्वार है। इस संवर की उत्पत्ति भेदविज्ञानपूर्वक हुई आत्मानुभूति के काल में ही होती है। अतः संवरभावना में भेदविज्ञान और आत्मानुभूति की भावना ही प्रधान है।

भेदविज्ञान मात्र दो वस्तुओं के बीच भेद जानने का नाम नहीं है। षट्द्रव्यमयी सम्पूर्ण लोक को स्व और पर - इन दो भागों में विभक्त कर, पर से भिन्न स्व में एकत्व स्थापित करना ही सच्चा भेदविज्ञान है।

अनित्य, अशरण और अशुचि जड़ शरीर तो पर है ही; अपनी ही आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप अशुचि आस्रवभाव भी पर ही हैं। जड़ शरीर एवं पुण्य-पापरूप शुभाशुभभाव तो दूर, गहराई में जाकर विचार करें तो आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाले संवर, निर्जरा, मोक्षरूप वीतरागभाव (शुद्धभाव) भी पर्याय होने से पर की सीमा में ही आते हैं; स्व तो पर और पर्याय से भिन्न एकमात्र ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुव आत्मतत्त्व ही है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के मोक्षमार्गरूप निर्मल भाव भी ध्येय नहीं हैं, श्रद्धेय नहीं हैं, परमज्ञेय भी नहीं हैं; आराध्य भी नहीं हैं। आराध्य तो अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड एक चैतन्यस्वभावी निजात्मतत्त्व ही है।

यद्यपि सभी आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी हैं, समान हैं; तथापि स्वयं को छोड़कर कोई अन्य आत्मा आराध्य नहीं है, श्रद्धेय नहीं है, परमज्ञेय भी नहीं हैं; क्योंकि वे सब पर हैं, प्रत्येक व्यक्ति का स्व तो निजशुद्धात्मतत्त्व ही है।

एक ओर पर और निजपर्याय से भी रहित ज्ञानानन्दस्वभावी निजशुद्धात्मतत्त्व 'स्व' है और दूसरी ओर सम्पूर्ण परपदार्थ, जिनमें परजीव भी सम्मिलित हैं तथा पर के लक्ष्य से निजात्मा में ही उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप शुभाशुभभाव एवं निजात्मा के आश्रय से निजात्मा में ही उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव हैं; ये सभी 'पर' हैं।

इसप्रकार सम्पूर्ण जगत को स्व और पर में विभाजित करके पर से विमुख होकर स्वसन्मुख होना ही भेदविज्ञान है, आत्मानुभूति है, संवर है, संवरभावना है, संवरभावना का फल है।

श्रद्धागुण की जो निर्मलपर्याय उक्त 'स्व' में एकत्व स्थापित करती है, अहं स्थापित करती है, ममत्व स्थापित करती है, अहंकार करती है, ममकार करती है, एकाकार होती है; उसी निर्मलपर्याय का नाम सम्यग्दर्शन है। इसीप्रकार ज्ञानगुण की जो निर्मलपर्याय उक्त 'स्व' को निज जानती है, वह सम्यग्ज्ञान है। उसी का ध्यान करनेवाली, उसी में लीन हो जानेवाली, जम जानेवाली, रम जानेवाली, समा जानेवाली चारित्रगुण की निर्मलपर्याय सम्यक्चारित्र है।

- यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुक्ति का मार्ग है, शुभाशुभभावरूप आस्रवभावों के निरोधरूप होने से संवर है, संवरभावना है। अतीन्द्रिय आनन्दमय होने से यही रत्नत्रय संवरभावना का सुमधुर फल भी है।

धर्म का आरंभ संवर से ही होता है। संवर स्वयं प्रकट पर्यायरूप धर्म है। पर्याय के बिन्दु का स्वभाव के सिन्धु में समा जाना ही वास्तविक धर्म है। बिन्दु की सुरक्षा भी सिन्धु में समा जाने में ही है; क्योंकि सिन्धु से बिछुड़ने पर बिन्दु का विनाश निश्चित ही है।

आनन्द की जननी संवरभावना ज्ञान की गंगा है, सुबुद्धिरूपी छैनी है, मुक्ति की नसैनी है।

ध्यान रहे गंगाजल को भी तबतक स्थिरता प्राप्त नहीं होती; जबतक कि वह सागर में न समा जावे। संवरभावना संबंधी चिन्तनधारा को भी तबतक स्थिरता प्राप्त नहीं होती, जबतक वह ज्ञानसागर आत्मा में न समा जावे।

जिसप्रकार गंगा की जलधारा जब अपना अस्तित्व खोकर सागर में सम्पूर्णतः समर्पित हो जाती है, समा जाती है, उससे एकमेक हे जाती है; तब वह स्वयं भी सागर हो जाती है। उसीप्रकार संवर संबंधी चिन्तनधारा (संवरानुप्रेक्षा - संवरभावना) भी जब अपना अस्तित्व खोकर ज्ञानसागर (ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली ध्रुव आत्मा) में सम्पूर्णतः समर्पित हो जाती है,

समा जाती है, उसी में विलीन हो जाती है; तब वह धर्म बन जाती है, आत्मा बन जाती है, धर्मात्मा बन जाती है।

आत्मा का धर्मरूप परिणमित हो जाना ही धर्मात्मा बन जाना है। धर्मपरिणत आत्मा को ही धर्मात्मा कहा जाता है। धर्मपरिणति को प्राप्त आत्मा ही मुक्ति प्राप्त करता है; अत: यह भावना मुक्ति की नसैनी ही है। अतीन्द्रिय-आनन्द की उत्पादक होने से आनन्द की जननी भी है। भेदविज्ञानमय होने से सुबुद्धिरूपी छैनी तो है ही।

कविवर पण्डित दौलतरामजी कहते हैं -

"जिन परमपैनी सुबुधि छैनी डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं निजभाव को न्यारा किया॥
निजमांहि निज के हेतु निज कर आपको आपै गह्यो।
गुण-गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मँझार कछु भेद न रह्यो॥[१]"

यहाँ उनकी ही प्रशंसा, उनकी ही स्तुति, उनको ही वंदना की गई है, जिन्होंने परमपैनी सुबुद्धिरूपी छैनी को अन्तर में डालकर, स्व-पर का भेदविज्ञान कर, वर्णादि परपदार्थों और रागादिभावों से निजभाव को न्यारा कर लिया है और अपने लिए ही, अपने द्वारा ही, अपने में ही, अपने को ग्रहण कर लिया है। अत: अब गुण-गुणी, ज्ञान-ज्ञेय एवं ज्ञाता के बीच कोई भेद नहीं रह गया है। सब अभेद अनुभूति में एकमेक हो समाहित हो गये हैं।

वर्णादि माने पुद्गलादि परपदार्थ और रागादि माने अपनी ही आत्मा में उत्पन्न होनेवाले चिद्विकार। निजभाव माने ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली ध्रुव निजशुद्धात्मतत्त्व।

पुद्गलादि परपदार्थों एवं चिद्विकारों से भिन्न अपने आत्मा को जानना, पहिचानना और पृथक् अनुभव करना ही वर्णादि और रागादि से निजभाव को न्यारा करना है। यह सब सुबुद्धिरूपी परमपैनी छेनी से ही संभव है।

---

१. छहढाला; छठवीं ढाल, छन्द ८

इसप्रकार भेदविज्ञान है मूल जिसका और आत्मानुभूति है सर्वस्व जिसका - ऐसी यह संवरभावना अतीन्द्रिय-आनन्दरूप एवं परमवैराग्य की जननी है।

संवरभावना संबंधी उक्त समग्र चिन्तन का सार पर और पर्याय से भिन्न निज भगवान आत्मा के सन्मुख होना है, स्वयं को सही रूप में जानना, पहिचानना है एवं स्वयं में ही समा जाना है।

अतः सम्पूर्ण जगत इस संवरभावनारूपी ज्ञानगंगा में आकण्ठ निमग्न होकर स्वभावसन्मुख हो, अपने में ही जम जावे, अपने में ही रम जावे और अनन्त अतीन्द्रिय-आनन्द को प्राप्त करे - इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

विनय और विवेक

विनय के बिना तो विद्या प्राप्त होती ही नहीं है, पर विवेक और प्रतिभा तो अनिवार्य है, इनके बिना भी विद्यार्जन असम्भव है। गुरु के प्रति अडिग आस्था का भी महत्वपूर्ण स्थान है, पर वह आतंक की सीमा तक न पहुँचना चाहिए, अन्यथा वह विवेक को कुण्ठित कर देगी।

समागत समस्याओं का समुचित समाधान तो स्वविवेक से ही संभव है; क्योंकि गुरु की उपलब्धि तो सदा और सर्वत्र सम्भव नहीं। परम्पराएं भी हर समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकती; क्योंकि एक तो समस्याओं के अनुरूप परम्पराओं की उपलब्धि सदा सम्भव नहीं रहती, दूसरे, परिस्थितियाँ भी तो बदलती रहती है।

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है, किन्तु वह विनय और मर्यादा को भंग करनेवाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है, क्योंकि निरकुंश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

क्षेत्र और काल के प्रभाव से समागत विकृतियों का निराकण करना जागृत विवेक का ही काम है, पर इसमें सर्वांग सावधानी अनिवार्य है।

- आप कुछ भी कहो, पृष्ठ २५

निर्जराभावना

शुद्धातमा की रुची संवर साधना है निर्जरा।
ध्रुवधाम निज भगवान की आराधना है निर्जरा॥
निर्मम दशा है निर्जरा निर्मल दशा है निर्जरा।
निज आतमा की ओर बढ़ती भावना है निर्जरा॥१॥

शुद्धात्मा की रुचि संवर और शुद्धात्मा की साधना निर्जरा है। वास्तव में देखा जाय तो ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना ही निर्जरा है। ममता रहित निर्मल दशा ही निर्जरा है। इसीप्रकार निज आत्मा की ओर नित्य वृद्धिंगत भावना ही निर्जरा है।

वैराग्यजननी राग की विध्वंसनी है निर्जरा।
है साधकों की संगिनी आनन्दजननी निर्जरा॥
तप-त्याग की सुख-शान्ति की विस्तारनी है निर्जरा।
संसार पारावर पार उतारनी है निर्जरा॥२॥

निर्जरा राग का नाश करनेवाली और वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली है। यह आनन्द को उत्पन्न करनेवाली माँ और साधक जीवों की जीवन-संगिनी प्रिय पत्नी है। यह निर्जरा तप और त्याग, सुख और शान्ति का विस्तार करनेवाली है, संसाररूप महासागर से पार उतारनेवाली नौका है।

निज आतमा के भान बिन है निर्जरा किस काम की।
निज आतमा के ध्यान बिन है निर्जरा बस नाम की॥
है बंध की विध्वंसनी आराधना ध्रुवधाम की।
यह निर्जरा बस एक ही आराधकों के काम की॥३॥

आत्मज्ञान और आत्मध्यान के बिना होनेवाली सविपाक या अकाम निर्जरा किसी भी काम की नहीं है; नाममात्र की निर्जरा है, उसका मात्र नाम ही निर्जरा है; वह निर्जरातत्त्व या निर्जराभावना नहीं है। आराधकों के काम की तो एकमात्र अविपाकनिर्जरा ही है, जो ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना से उत्पन्न होती है और कर्मबन्ध का विध्वंस करनेवाली है।

इस सत्य को पहिचानते वे ही विवेकी धन्य हैं।
ध्रुवधाम के आराधकों की बात ही कुछ अन्य है॥
शुद्धातमा की साधना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥४॥

जो जीव इस सत्य को जानते हैं, पहिचानते हैं; वे ही विवेकी हैं, वे ही धन्य हैं; क्योंकि ध्रुवधाम निज भगवान के आराधकों की बात ही कुछ और होती है, गजब की होती है। संवरभावना का सार शुद्धात्मा को जानना ही है और ध्रुवधाम निज भगवान की आराधना ही आराधना का सार है।

"नहीं। देखो नहीं, देखना सहज होने दो; जानो नहीं, जानना सहज होने दो। रमो भी नहीं, जमो भी नहीं; रमना-जमना भी सहज होने दो। सब-कुछ सहज; जानना सहज, देखना सहज, जमना सहज, रमना सहज। कर्तृत्व के अहंकार से ही नहीं, विकल्प से भी रहित सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जावो।"

- सत्य की खोज, पृष्ठ २०३

निर्जराभावना : एक अनुशीलन

शुद्धातमा की रुची संवर साधना है निर्जरा।
ध्रुवधाम निज भगवान की आराधना है निर्जरा॥
वैराग्यजननी बंध की विध्वंसनी है निर्जरा।
है साधकों की संगिनी आनन्दजननी निर्जरा॥

"संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं निज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं॥[१]

शुभाशुभभाव के निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योग से युक्त जो जीव अनेक प्रकार के तप करता है; वह नियम से अनेक प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है।"

आचार्य कुन्दकुन्द के उक्त कथन में निम्नांकित दो बात अत्यन्त स्पष्ट हैं -

(१) निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है।

(२) शुद्धोपयोग से समृद्ध तप ही निर्जरा के मुख्य हेतु हैं।

इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र निर्जरा के द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा रूप भेदों की चर्चा इसप्रकार करते हैं -

"तदत्र कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गान्तरङ्गतपोवृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा, तदनुभावनीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्तकर्म-पुद्गलानां द्रव्यनिर्जरेति।

---

१. पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १४४

कर्म की शक्ति को क्षीण करने में समर्थ बहिरंग और अंतरंग तपों द्वारा वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग ही भावनिर्जरा है; तथा शुद्धोपयोग के प्रभाव से नीरस हुए उपात्त कर्मों का एकदेश क्षय द्रव्यनिर्जरा है।''

आचार्य अमृतचन्द्र के इस कथन में शुद्धोपयोग को ही भावनिर्जरा कहा गया है तथा तप को उसका हेतु बताया गया है एवं द्रव्यनिर्जरा का हेतु शुद्धोपयोगरूप भावनिर्जरा को कहा गया है।

उक्त सम्पूर्ण कथन पर दृष्टि डालने पर यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि मुक्ति के मार्ग में आनेवाली निर्जराभावना या निर्जरातत्त्व की चर्चा का सम्बन्ध स्वसमय में उदय में आकर स्वयं खिर जानेवाले कर्मों से होनेवाली सविपाकनिर्जरा से कदापि नहीं है; अपितु संवरपूर्वक शुद्धोपयोग से होनेवाली अविपाकनिर्जरा से ही है।

सविपाकनिर्जरा तो ज्ञानी-अज्ञानी सभी के सदाकाल हुआ ही करती है, पर अविपाकनिर्जरा ज्ञानी के ही होती है; क्योंकि निर्जराभावना और निर्जरातत्त्व ज्ञानी के ही प्रकट होते हैं, अज्ञानी के नहीं।

निर्जराभावना संबंधी उपलब्ध समग्र चिन्तन में इसं बात का उल्लेख भरपूर हुआ है। जैसा कि निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट है -

''निजकाल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना ।
तप करि जो कर्म खिपावै, सो ही शिवसुख दरसावे ॥[१]

समय आने पर जो कर्म झरते हैं, उनसे आत्महित का कार्य सिद्ध नहीं होता; तपश्चर्या द्वारा कर्मों का जो क्षय किया जाता है, उससे ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

तपबल पूर्व कर्म खिर जाँहि, नये ज्ञानबल आवैं नाहिं ।
यही निर्जरा सुखदातार, भवकारण तारण निरधार ॥[२]

---

१. पण्डित दौलतरामजी : छहढाला; पंचम ढाल, छन्द ११
२. कविवर भूधरदासजी कृत पार्श्वपुराण

तप के द्वारा पुराने कर्मों का खिर जाना और ज्ञान के बल से नये कर्मों का नहीं आना ही निर्जरा है, जो कि सुख देनेवाली है और संसार के कारणों से पार उतारनेवाली, छुड़ानेवाली है - ऐसा जानना चाहिए।

ज्यों सरवर जल रुका, सूखता तपन पड़े भारी;
संवर रोके कर्म निर्जरा है सोखनहारी।
उदय भोग सविपाक समय पक जाय आम डाली;
दूजी है अविपाक पकावै पाल विषै माली॥
पहली सबके होय नहीं कुछ सरे काम तेरा;
दूजी करे जु उद्यम करके मिटे जगत फेरा।
संवर सहित करो तप प्राणी मिले मुकति रानी;
इस दुलहिन की यही सहेली जाने सब ज्ञानी॥[१]

जिसप्रकार सरोवर का रुका हुआ पानी भारी धूप से सूखता है; उसीप्रकार संवर नये कर्मों को आने से रोकता है और निर्जरा पुराने कर्मों को सोखती है। जिसप्रकार आम का फल समय आने पर डाली पर स्वयं पक जाता है, पर कभी-कभी माली उसे पाल में डालकर समय के पूर्व भी पका लेता है; उसीप्रकार कर्मों का स्वसमयानुसार उदय में आकर खिर जाना सविपाकनिर्जरा है और तप द्वारा उदयकाल के पहिले ही खिरा देना अविपाकनिर्जरा है।

पहली सविपाकनिर्जरा तो ज्ञानी-अज्ञानी सभी के सदाकाल होती ही रहती है; उससे किसी का कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वह आत्महित में रंचमात्र भी कार्यकारी नहीं है। दूसरी अविपाकनिर्जरा ज्ञानीजनों द्वारा उद्यमपूर्वक की जाती है और उसी से संसार परिभ्रमण मिटता है। इसलिए हे प्राणियों! संवर सहित तप करो, उससे तुम्हें मुक्तिरानी प्राप्त होगी; क्योंकि मुक्तिरूपी दुलंहिन की सहेली अविपाकनिर्जरा ही है - यह सभी ज्ञानीजन भलीभाँति जानते हैं। तात्पर्य यह है कि मोक्ष की प्राप्ति अविपाकनिर्जरा से ही होती है।

---

१. कविवर मंगतरायजी कृत बारह भावना

निर्जराभावना के स्वरूप और प्रकारों की चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा में इसप्रकार करते हैं –

''बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहिं पण्णत्तं।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे ॥६६॥
सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढ़मा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥६७॥

कर्मबंध के प्रदेशों का गलना निर्जरा है और जिन कारणों से संवर होता है, उन्हीं से निर्जरा होती है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

वह निर्जरा दो प्रकार की होती है। प्रथम तो स्वसमय में होनेवाली सविपाकनिर्जरा और दूसरी तप के द्वारा निष्पन्न होनेवाली अविपाकनिर्जरा। पहली सविपाकनिर्जरा चतुर्गति के सभी जीवों के होती है और दूसरी अविपाकनिर्जरा सम्यग्ज्ञानी व्रतधारियों को ही होती है।''

उक्त कथन में सविपाक और अविपाक निर्जरावाली बात तो पूर्ववत् ही है, पर एक बात नई कही गई है कि जो कारण संवर के कहे गये हैं, निर्जरा भी उन्हीं कारणों से होती है। अत: उन कारणों पर संवरभावना में जिसप्रकार का चिन्तन किया जाता है, उसीप्रकार का चिन्तन निर्जरा-भावना के चिन्तन में भी अपेक्षित है।

निर्जरा के कारणों में संवर के कारणों के अतिरिक्त बारह प्रकार के तप को विशेषरूप से गिनाया गया है, तत्त्वार्थसूत्र के **'तपसा निर्जरा च'** सूत्र में भी यही बात परिलक्षित होती है। उपलब्ध बारह भावनाओं में विशेषरूप से तप की चर्चा है; गुप्ति, समिति आदि संवर के कारणों की चर्चा नगण्य सी ही है। इसका एकमात्र कारण सीमित स्थान और पुनरावृत्ति से बचाव की प्रवृत्ति ही प्रतीत होता है। संवरभावना में चर्चा हो जाने के तत्काल बाद उनकी दुबारा चर्चा करना किसी को भी उचित प्रतीत नहीं हुआ।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में निर्जरा के कारणों की चर्चा इसप्रकार की गई है –

"वारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥१०२॥
जो समसोक्खणिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं।
इन्दियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥११४॥

अहंकार और निदान रहित ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्यभावना से निर्जरा होती है।

जो साम्यभावरूप सुख में लीन होकर बार-बार आत्मा का स्मरण करता है, ध्यान करता है तथा इन्द्रियों और कषायों को जीतता है; उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।"

उक्त गाथाओं में बारह प्रकार के तपों के साथ वैराग्यभावना को निर्जरा का कारण बताया गया है। सर्वाधिक महत्त्व इन्द्रियों और कषायों के जीतने, साम्यभाव धारण करने एवं आत्मस्मरण अर्थात् आत्मध्यान को दिया गया है; क्योंकि इनको सामान्यनिर्जरा का नहीं, परमनिर्जरा का कारण कहा गया है।

यद्यपि बारह तपों में ध्यान भी एक तप है; तथापि उसका उल्लेख पृथक्रूप से विशेष किया गया है। वस्तुत: बात तो यह है कि शुद्धोपयोगरूप आत्मध्यान की निरन्तर वृद्धि ही भावनिर्जरा है और द्रव्यनिर्जरा का मूल है।

धर्म की उत्पत्ति संवर, वृद्धि निर्जरा और पूर्णता मोक्ष है। आत्मशुद्धि ही धर्म है; अत: इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि शुद्धि की उत्पत्ति संवर, शुद्धि की वृद्धि निर्जरा और शुद्धि की पूर्णता ही मोक्ष है।

भेदविज्ञान और आत्मानुभूतिपूर्वक निश्चयरत्नत्रयरूप शुद्धि की उत्पत्ति व स्थिति भावसंवर है और उसके निमित्त से आते हुए कर्मों का रुकना द्रव्यसंवर; आत्मध्यानरूप शुद्धोपयोग से उक्त शुद्धि की वृद्धि होते जाना-शुद्धि का निरन्तर बढ़ते जाना भावनिर्जरा है और उसके निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों का समय से पूर्व ही खिरते जाना द्रव्यनिर्जरा है; तथा पूर्ण शुद्धि का प्रगट हो जाना ही भावमोक्ष है, तदनुसार सम्पूर्ण द्रव्यकर्मों से आत्मा का मुक्त हो जाना द्रव्यमोक्ष है।

जिसप्रकार वृक्ष की उत्पत्ति बिना उसकी वृद्धि और पूर्णता संभव नहीं है; उसीप्रकार आत्मशुद्धि की उत्पत्ति बिना उसकी वृद्धि और पूर्णता संभव नहीं है। यही कारण है कि निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है।

जिसप्रकार संवरभावना में संवर के कारणों के विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं होता, अपितु उनकी उपादेयता का विचार, भेदविज्ञान और आत्मानुभूति की प्रबल भावना ही अभीष्ट होती है; उसीप्रकार निर्जराभावना में भी निर्जरा के कारण बारह तपों के विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं होता, शुद्धोपयोगरूप आत्मध्यान की प्रबल भावना ही अभीष्ट होती है।

ज्ञानीजनों का एकमात्र अभीष्ट अनन्तसुखमय मोक्ष ही होता है। उसकी प्राप्ति की प्रबल हेतुभूत एवं आत्मशुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा की भावना उनके सहज ही प्रस्फुटित होती है और होनी भी चाहिए।

ध्यान रहे बारह भावनाओं में मोक्षभावना नाम की कोई भावना नहीं है; अत: इस निर्जराभावना में ही शुद्धि की पूर्णतारूप मोक्ष की भावना भी होती ही है।

अशुद्धि का सम्पूर्णत: अभाव और शुद्धि की पूर्णत: प्राप्ति ही मोक्ष है; तथा शुद्धि की उत्पत्ति व स्थितिरूप संवर तथा वृद्धिरूप निर्जरा मोक्षमार्ग है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए मोक्ष की भावना से भी अधिक महत्त्व मोक्षमार्ग की भावना का है। यही कारण है कि बारह भावनाओं में मोक्षमार्गरूप होने से संवर और निर्जरा को भावनाओं के रूप में स्वतंत्र स्थान प्राप्त है, जब कि मोक्ष को इन्हीं में सम्मिलित कर लिया गया है।

समयसार जैसे ग्रन्थाधिराज को समाप्त करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समस्त जगत को मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित करने का आदेश देते हुए कहते हैं -

"मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

हे आत्मन्! तू अपने आपको मोक्षमार्ग में स्थापित कर, उसी का अनुभव कर, उसी का ध्यान कर और उसी में निरन्तर विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।"

तात्पर्य यह है कि जमने योग्य, रमने योग्य, अनुभव करने योग्य, ध्यान करने योग्य और विहार करने योग्य एकमात्र मोक्षमार्गरूप संवर और निर्जरा तत्त्व ही हैं।

इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार कहते हैं -

"एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥[१]

दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक एक ही मोक्षमार्ग है। जो पुरुष (पुरुषार्थी जीव) उक्त मोक्षमार्ग (मोक्षमार्ग के आधारभूत शुद्धात्मा) में ही स्थिर रहता है, निरन्तर उसी का ध्यान करता है, उसी को चेतता है, उसी का अनुभव करता है, अन्य द्रव्यों का स्पर्श भी न करता हुआ निरन्तर उसी में विहार करता है; वह पुरुष नित्योदित समयसार (शुद्धात्मा) को अल्पकाल में अवश्य ही प्राप्त करता है।"

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि संवरभावना में तो यह कहा गया था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के मोक्षमार्गरूप निर्मलभाव भी ध्येय नहीं हैं, श्रद्धेय नहीं हैं, परमज्ञेय भी नहीं हैं, आराध्य भी नहीं हैं; आराध्य तो अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड एक चैतन्यस्वभावी निजात्मतत्त्व ही है और यहाँ यह कहा जा रहा है कि तू अपने को मोक्षमार्ग में स्थापित कर, उसी का अनुभव कर, उसी का ध्यान कर, उसी में निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

भाई! दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है, दोनों का भाव एक ही है। उक्त सन्दर्भ में समयसार की निम्नांकित गाथा मननीय है -

"दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६॥

---

१. समयसार, कलश २४०

साधुपुरुषों को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का नित्य सेवन करना चाहिए; क्योंकि निश्चय से तीनों को आत्मा ही जानो।''

वस्तुतः बात यह है कि उक्त कथनों में मात्र निश्चय-व्यवहार का कथनभेद है, क्रियात्मक अन्तर रंचमात्र भी नहीं है; क्योंकि आत्मा की आराधना का नाम ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। अतः चाहे ऐसा कहो कि आत्मा की आराधना करो या यह कहो कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो - एक ही बात है।

उक्त गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र इस बात को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो, उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है - इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से समझाते हैं कि साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं; किन्तु परमार्थ से देखा जाय तो ये तीनों एक आत्मा ही हैं; क्योंकि ये आत्मा से अन्य वस्तु नहीं हैं। अतः यह स्वतःसिद्ध है कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है।''

आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि ज्ञानीजन स्वयं तो ऐसा विचार करते हैं कि सर्वप्रकार से एक आत्मा ही नित्य सेवन करने योग्य है; किन्तु इसी बात को दूसरों को इसप्रकार समझाते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही सदा सेवन करने योग्य हैं।

इस कथन के रहस्य को न समझ पाने के कारण कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि यह क्या बात हुई? क्या मुक्ति के मार्ग में भी 'हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और' वाली बात चलती है? क्या आचार्यदेव अपने लिए तो एक आत्मा ही सेवन योग्य मानते हैं और दूसरों के लिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन करने का उपदेश देते हैं?

पर बात ऐसी नहीं है; क्योंकि जिसे निश्चयनय से आत्मा का सेवन कहते हैं, उसे ही व्यवहारनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन कहा जाता है। स्वयं का निश्चय निश्चयरूप और उपदेश व्यवहाररूप होने से ही इसप्रकार का प्रयोग हुआ है; मूलतः दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है, एक ही बात है।

आत्मा का दर्शन, ज्ञान और ध्यान ही आत्मा में स्थापित होना है, आत्मा का अनुभव करना है, आत्मा में जमना-रमना है, आत्मा में विहार करना है तथा यही परिणमन मोक्षमार्ग में स्थापित होना है, मोक्षमार्ग में विहार करना है; अत: दोनों कथनों के भाव में कोई अन्तर नहीं है। मोक्षमार्ग में स्थापित होने का क्रियात्मकरूप आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्माचरण (आत्मध्यान) ही है, इससे भिन्न कुछ नहीं।

जब द्रव्यस्वभाव की ओर से बात करते हैं तो उसे आत्मा की आराधना, साधना, उपासना कहते हैं और जब पर्यायस्वभाव की ओर से बात करते हैं तो उसी को रत्नत्रय की साधना, आराधना, उपासना या मोक्षमार्ग की साधना, आराधना या उपासना कहा जाता है। ध्येय, श्रद्धेय परमज्ञेयरूप उपास्य - आराध्य तो त्रिकाली ध्रुव आत्मा ही है और उसके ध्यान, श्रद्धान एवं ज्ञानरूप उपासना-आराधना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है; अत: चाहे आत्मा की उपासना कहो, चाहे मोक्षमार्ग की उपासना कहो-एक ही बात है।

संवर मोक्षमार्ग का आरम्भ है और निर्जरा मोक्षमार्ग; अत: संवरपूर्वक निर्जरारूप परिणमन ही मोक्षमार्ग में आरूढ़ होना है। इसी दिशा में निरन्तर बढ़ते रहने की भावना ही निर्जराभावना है।

शुद्धोपयोग है स्वरूप जिसका-ऐसी भावनिर्जरारूप परिणमन कर, पूर्णत: स्वात्मनिष्ठ होकर सम्पूर्ण जगत अनन्त-आनन्दरूप मोक्षदशा को प्राप्त करे- इस पावन भावना से विराम लेता हूँ। ●

भगवान और भगवानदास

अरे भाई, पर भगवान या पर्यायरूप भगवान की शरण में जाने वाले भगवानदास बनते हैं, भगवान नहीं। यदि स्वंय ही पर्याय में भगवान बनना हो तो जिन भगवान आत्मा की ही शरण में जाना होगा, उसे ही जानना-पहिचानना होगा, उसमें ही अपनापन स्थापित करना होगा, उसका ही ध्यान धरना होगा, उसमें ही समा जाना होगा - इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिए। - **आत्मा ही है शरण, पृष्ठ २०३**

१०

लोकभावना

निज आतमा के भान बिन षट्द्रव्यमय इस लोक में।
भ्रमरोगवश भव-भव भ्रमण करता रहा त्रैलोक्य में॥
करता रहा नित संसरण जगजालमय गति चार में।
समभाव बिन सुख रञ्च भी पाया नहीं संसार में॥१॥

षट्द्रव्यमय और तीन लोक वाले इस लोक में यह आत्मा आत्मा के ज्ञान बिना भ्रमरूपी रोग के वश होकर भव-भव में भ्रमण करता रहा; जगत के जंजाल में उलझानेवाली चार गतियों में निरन्तर घूमता ही रहा। समताभाव के अभाव में इस संसार में इसे रंचमात्र भी सुख प्राप्त नहीं हुआ।

नर नर्क स्वर्ग निगोद में परिभ्रमण ही संसार है।
षट्द्रव्यमय इस लोक में बस आतमा ही सार है॥
निज आतमा ही सार है स्वाधीन है सम्पूर्ण है।
आराध्य है सत्यार्थ है परमार्थ है परिपूर्ण है॥२॥

नरक, तिर्यञ्च, देव एवं मनुष्य गतियों में परिभ्रमण करते रहना ही संसार है। छह द्रव्यों वाले इस लोक में एक आत्मा ही सारभूत पदार्थ है। अपना आत्मा ही सार है, स्वाधीन है, सम्पूर्ण है, आराध्य है, सत्यार्थ है, परमार्थ है और परिपूर्ण है।

निष्काम है निष्क्रोध है निर्मान है निर्मोह है।
निर्द्वन्द्व है निर्दण्ड है निर्ग्रन्थ है निर्दोष है॥
निर्मूढ है नीराग है आलोक है चिल्लोक है।
जिसमें झलकते लोक सब वह आतमा ही लोक है॥३॥

अपना आत्मा ही काम, क्रोध, मान और मोह से रहित है। एक आत्मा ही निर्द्वन्द्व है, निर्दण्ड है, निर्ग्रन्थ और निर्दोष है। मिथ्यात्व और राग रहित भी वही है, प्रकाशस्वरूप चैतन्यलोक भी वही है। यदि गहराई से विचार किया जाये तो जिसमें सम्पूर्ण लोक झलकते हैं, वह ज्ञान-स्वभावी आत्मा ही वास्तविक लोक है।

निज आतमा ही लोक है निज आतमा ही सार है।
आनन्दजननी भावना का एक ही आधार है॥
यह जानना पहिचानना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥४॥

अपना आत्मा ही लोक है और अपना आत्मा ही सारभूत पदार्थ है। आनन्द को उत्पन्न करनेवाली इस लोकभावना के चिन्तन का एकमात्र आधार निज भगवान आत्मा ही है। यह जानना-पहिचानना ही लोकभावना के चिन्तन का सम्पूर्ण सार है और ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना ही आराधना का सार है।

मेरी भावना

भाई! अनन्त शान्ति और सुख प्राप्त करने का तो एकमात्र यही मार्ग है। अत: मेरी तो यही भावना है कि यह आध्यात्मिक परमसत्य, त्रैकालिक परमसत्य, ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुव आत्मतत्व - जिन्हें खोजना है, वे खोजें; जानना है, वे जाने; पाना है, वे पावें। जिन्होंने खोज लिया हो, पा लिया हो; वे उसी में जम जावें, रम जावें, समा जावें और अनन्तसुखी हों, शान्त हों।

- सत्य की खोज, पृष्ठ २५२

लोकभावना : एक अनुशीलन

निज आतमा के भान बिन षट्द्रव्यमय इस लोक में।
भ्रमरोग वश भव-भव भ्रमण करता रहा त्रैलोक्य में॥
निज आतमा ही लोक है निज आतमा ही सार है।
आनन्दजननी भावना का एक ही आधार है॥

'संयोग अनित्य हैं, अशरण हैं, असार है, अशुचि हैं, सुख-दु:ख में साथ देनेवाले नहीं हैं; क्योंकि वे अपने आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं।'

आरंभिक छह भावनाओं में संयोगों के संदर्भ में इसप्रकार का चिन्तन करने के उपरान्त सातवीं आस्रवभावना में 'संयोग के लक्ष्य से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाले संयोगीभाव - चिद्विकार - मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव भी अनित्य हैं, अशरण हैं, अशुचि हैं, दु:खरूप हैं, दु:ख के कारण भी हैं; अंत: हेय हैं और भगवान आत्मा नित्य है, परमपवित्र है, परमानन्दरूप है एवं परमानन्द का कारण भी है; अत: ध्येय है, श्रद्धेय है, आराध्य है, साध्य है एवं परम-उपादेय भी है' - इसप्रकार का चिन्तन किया गया है।

इसप्रकार संयोग और संयोगी भावों से विरक्ति उत्पन्न कर संवर और निर्जरा भावना में पर और पर्यायों से भिन्न निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली निर्मलपर्यायरूप शुद्धि और शुद्धि की वृद्धि की उपादेयता का चिन्तन किया गया; क्योंकि शुद्धि की उत्पत्ति व स्थितिरूप संवर तथा वृद्धिरूप निर्जरा ही अनन्तसुखरूप मोक्ष प्रगट होने के साक्षात् कारण हैं।

इसप्रकार ज्ञेयरूप संयोग, हेयरूप आस्रवभाव एवं उपादेयरूप संवर-निर्जरा के सम्यक् चिन्तन के उपरान्त अब लोकभावना में षट्द्रव्यमयी लोक के स्वरूप पर विचार करते हैं।

लोकभावना का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा की चार सौ नवासी गाथाओं में सर्वाधिक स्थान घेरनेवाली लोकभावना और धर्मभावना ही है। अनित्यभावना से निर्जराभावना तक नौ भावनाओं में कुल ११४ गाथाएँ हैं, जबकि अकेली लोकभावना १६९ गाथाओं को अपने में समेटे हुए हैं।

लोकभावना में भेद-प्रभेद सहित छह द्रव्यों के स्वरूप के साथ-साथ लोक का भौगोलिक निरूपण भी समाहित हो जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि इस भावना में जिनागम में वर्णित वस्तु-व्यवस्था संबंधी समस्त विषय-वस्तु आ जाती है। एक प्रकार से इसमें द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकायसंग्रह एवं त्रिलोकसार का सम्पूर्ण विषय आ जाता है।

यद्यपि इस लघु निबंध में उक्त सम्पूर्ण विषय-वस्तु का विस्तृत प्रतिपादन संभव नहीं है; तथापि लोकभावना की चिन्तन-प्रक्रिया एवं उसकी उपयोगिता पर सम्यक् अनुशीलन तो अपेक्षित है ही।

यद्यपि लोकभावना की विषय-वस्तु अत्यन्त विस्तृत है, तथापि अनेक ज्ञानियों ने उसका प्रतिपादन एक-एक छन्द में भी किया है, फिर भी लोक-भावना की सम्पूर्ण भावना को अपने में समाहित कर लिया है।

इस दृष्टि से हिन्दी कवियों के निम्नांकित कथन द्रष्टव्य हैं -

"किनहूँ न करौ न धरै को, षट्द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक माँहि बिन समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता॥[1]

छह द्रव्यों के समुदायरूप इस लोक को न तो किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किए है और न कोई इसका विनाश ही कर सकता है। इस लोक में यह आत्मा अनादिकाल से समताभाव बिना भ्रमण करता हुआ अनन्त दुःख सह रहा है।

चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादि तैं, भरमत है बिन ज्ञान॥[2]

---

१. पण्डित दौलतरामजी : छहढाला, पंचम ढाल, छन्द १२
२. कविवर भूधरदासजी कृत : बारह भावना

इस पुरुषाकार चौदह राजू ऊँचे लोक में यह जीव आत्मज्ञान बिना अनादिकाल से ही भ्रमण कर रहा है।''

उक्त दोनों भावनाओं में नीचे की पंक्ति का भाव तो लगभग समान ही है; क्योंकि दोनों में ही यह बताया गया है कि जीव अनादि से ही लोक में भ्रमण करता हुआ दु:ख भोग रहा है। अन्तर मात्र इतना है कि एक में दु:ख का कारण समताभाव का अभाव बताया गया है और दूसरी में सम्यग्ज्ञान का अभाव, पर इसमें कोई विशेष बात नहीं है; किन्तु ऊपर की पंक्ति में जो लोक के स्वरूप का प्रतिपादन है, वह भिन्न-भिन्न है। एक में लोक को स्वनिर्मित, स्वाधीन, अविनाशी और षट्द्रव्यमयी बताया गया है; तो दूसरी में चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार निरूपित किया गया है।

यह बात पहले भी स्पष्ट की जा चुकी है कि लोकभावना में छहद्रव्यों के समुदायरूप लोक की बात भी चिन्तन का विषय बनती है और लोक की भौगोलिक स्थिति भी। लोकभावना की विषय-वस्तु संबंधी उक्त दोनों प्रकारों में से एक ने प्रथम प्रकार को एवं दूसरे ने दूसरे प्रकार को पकड़कर अपनी बात प्रस्तुत कर दी है। दो पंक्तियों के छोटे से छन्द में इससे अधिक और कहा भी क्या जा सकता था? पर एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि लोकभावना की जो मूल भावना है, वह दोनों में समानरूप से विद्यमान है।

मूल बात लोक के स्वरूप प्रतिपादन की नहीं, सम्यग्ज्ञान और समताभाव बिना जीव के अनादि परिभ्रमण की है; क्योंकि सम्यग्ज्ञान और समताभाव की तीव्रतम रुचि जागृत करना ही इन भावनाओं के चिन्तन का मूल प्रयोजन है।

लोकभावना संबंधी सम्पूर्ण विषय-वस्तु एवं मूलभूत प्रयोजन की बात मंगतराय कृत बारह भावनाओं में समागत लोकभावना में और भी अधिक मुखरित हुई है, जो इसप्रकार है -

''लोक अलोक अकाश माँहि थिर निराधार जानो।
पुरुषरूप कर कटी भये षट्द्रव्यन सों मानो॥
इसका कोई न करता हरता अमिट अनादी है।
जीव रु पुद्गल नाचे यामें कर्म उपाधी है॥

पाप-पुण्य सों जीव जगत में नित सुख-दुख भरता।
अपनी करनी आप भरै शिर औरन के धरता॥
मोहकर्म को नाश मेटकर सब जग की आशा।
निजपद में थिर होय लोक के शीश करो वासा॥

अलोकाकाश में यह षट्द्रव्यमयी लोक निराधार (स्वयं के आधार पर) स्थित है और कमर पर हाथ रखे पुरुष के आकार का है। इस लोक का कोई भी कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है; क्योंकि यह अनादि-अनन्त अमिट है। इस लोक में कर्म की उपाधि के कारण जीव और पुद्गल ही नृत्य कर रहे हैं, पाप-पुण्य के वश जीव निरन्तर दुख-सुख भोग रहा है।

यद्यपि यह जीव अपनी करनी का फल स्वयं ही भोगता है; तथापि उसे दूसरों के शिर मढ़ता रहता है। यह वृत्ति ही इसके दु:खों का, परिभ्रमण का मूल कारण है।

अत: हे भव्यप्राणियों! यदि अपना हित चाहते हो तो सम्पूर्ण जगत की सभी आशाओं को मेटकर और मोहकर्म का नाश करके निज पद में स्थिर हो जाओ। यदि ऐसा कर सके तो तुम्हारा आवास लोक के शिखर पर होगा। तात्पर्य यह है कि तुम्हें सिद्धपद की प्राप्ति होगी; क्योंकि सिद्ध भगवान ही लोकशिखर पर विद्यमान सिद्धशिला पर विराजते हैं।"

उक्त छन्द में लोक का आकार, स्वरूप, स्थान, स्थिति, स्वाधीनता, अकृत्रिमता, अनादि-अनन्तता आदि सब-कुछ आ गया है; साथ ही इस लोक में जीव के परिभ्रमण का कारणरूप कर्त्ताबुद्धि और दूसरों के माथे स्वयंकृत अपराधों को मढ़ने की अनादिकालीन वृत्ति-दुष्प्रवृत्ति का परिचय भी दे दिया गया है। अन्त में जगत की आशा छोड़ने और मोहकर्म के नाश करने की पावन प्रेरणा देते हुए अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में स्थिर होने का अनुरोध भी किया गया है और उसका फल सिद्धपद की प्राप्ति बताकर प्रेरणा को सबल बना दिया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जो अति-आवश्यक था, वह सब एक ही छन्द में बड़े ही प्रभावक ढंग से समेट लिया गया है। निर्जराभावना के उपरान्त आनेवाली इस लोकभावना को लोकशिखर सिद्धशिला (मोक्ष) से जोड़कर

अद्भुत संधि बिठा दी गई है। इतनी अधिक विषय-वस्तु एक ही छन्द में समाहित कर देने के उपरान्त भी वैराग्यवर्धक भावना को ठेस न पहुँचकर अद्भुत बल मिला है; भावनात्मक चिन्तन का वेग, वैराग्यभावना का उद्वेग अपने पूरे प्रवाह पर कायम ही नहीं रहा, अपितु वृद्धिंगत रहा है।

लोकभावना की मूलभावना पंडित जयचन्दजी छाबड़ा के शब्दों में अति-संक्षेप में इसप्रकार है -

"लोकस्वरूप विचारि कैं, आतमरूप निहारि।
परमारथ व्यवहार मुणि, मिथ्याभाव निवारि॥"

उक्त छन्द में प्रेरणा दी गई है कि हे आत्मन्! निश्चय-व्यवहार को अच्छी तरह समझ कर मिथ्याभावों को दूर करो, षट्द्रव्यमयी लोक के स्वरूप को भली-भाँति विचार कर अपने को देखो, आत्मा का अनुभव करो।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ षट्द्रव्यों को तो मात्र जानने की ही बात कही, पर आत्मा को निहारने का आदेश दिया है; क्योंकि परद्रव्य होने से षट्द्रव्य तो मात्र ज्ञान के ज्ञेय ही हैं, पर आत्मा निजद्रव्य होने से परम-उपादेय है, ध्येय भी है।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप मिथ्याभावों के निवारण करने का एकमात्र उपाय अपने आत्मा को निहारना ही है; क्योंकि आत्मा के निहारने-दर्शन करने, जानने, ध्यान करने का नाम ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है।

जगत को जानकर उससे दृष्टि हटाकर निज भगवान आत्मा में स्थिर हो जाना ही लोकभावना के चिन्तन का सुपरिणाम है। यही कारण है कि लोकभावना के चिन्तन का मूल केन्द्रबिन्दु षट्द्रव्यमयी लोक से भिन्न निज भगवान आत्मा की उपासना करने की प्रेरणा देना ही रहा है।

इस दृष्टि से निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य हैं -

"तेरो जनम हुवो नहीं जहाँ, ऐसो खेतर नाहीं कहाँ।
याही जनम-भूमि का रचो, चलो निकसि तो विधि तैं बचो॥[१]

१. कविवर बुधजन कृत बारह भावना

सम्पूर्ण लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ तेरा जन्म न हुआ हो। हे आत्मन्! तू इस जन्मभूमि में ही क्यों रच-पच रहा है। यदि कर्मों के बन्धन से बचना है तो इससे अपनत्व तोड़ो, राग छोड़ो; इसी में भला है।

लोक माँहि तेरो कछु नाहिं, लोक आन तुम आन लखाहिं।
वह षट्द्रव्यन को सब धाम, तू चिन्मूरति आतमराम॥[१]

इस जगत में तेरा कुछ भी नहीं है। जगत अलग है और तू अलग है - यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है; क्योंकि जगत षट्द्रव्यों का आवास है, षट्द्रव्यमयी है और तू चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा है।"

उक्त छन्दों में जगत से भेदविज्ञान एवं वैराग्यभाव पर ही विशेष बल दिया गया है, लोक के स्वरूप या आकार पर नहीं; अत: यह अत्यन्त स्पष्ट है कि लोकभावना के चिन्तन में जगत से विरक्ति एवं भिन्नता की प्रबलता ही मुख्य है।

एक सौ उनहत्तर गाथाओं में लोकभावना का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय लोकभावना के चिन्तन का फल बताते हुए लिखते हैं -

"एवं लोयसहावं जो झायदि उवसमेक्कसब्भाओ।
सो खविय कम्मपुंजं तस्सेव सिहामणी होदि॥[२]

इसप्रकार लोक के स्वरूप को उपशमभाव से जो पुरुष एक (आत्म) स्वभावरूप होता हुआ ध्याता है; वह कर्मसमूह का नाश करके उस ही लोक का शिखामणी होता है अर्थात् सिद्धदशा को प्राप्त होता है।"

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के हिन्दी वचनिकाकार पंडितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा लोकानुप्रेक्षा की वचनिका लिखने के उपरान्त लोकानुप्रेक्षा की सम्पूर्ण विषय-वस्तु का उपसंहार करते हुए सारांश के रूप में एक कुण्डलिया लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

---

१. भैया भगवतीदास कृत बारह भावना
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २८३

"लोकालोक विचारिकैं, सिद्धस्वरूप चितारि।
राग-विरोध बिडारिकैं, आतमरूप संवारि॥
आतमरूप संवारि मोक्षपुर बसो सदा ही।
आधि-व्याधि जर-मरन आदि दुख है न कदा ही॥
श्रीगुरु शिक्षा धारि टारि अभिमान कुशोका।
मन थिर कारन यह विचारि निजरूप सुलोका॥[१]

लोकालोक के स्वरूप का विचार कर, लोकाग्र में विराजमान सिद्ध के स्वरूप का स्मरण कर, राग-द्वेष को दूर कर आत्मा के स्वरूप को सँवारना ही वास्तविक धर्म है, मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग पर चलनेवाले उस मोक्षपुर में सदा ही निवास करते हैं, जहाँ न तो आधि (मानसिक क्लेश) है और न व्याधि (शारीरिक रोग)। वहाँ जन्म-मरण आदि के दुख भी कभी नहीं होते। अत: अभिमान और शोक छोड़कर श्रीगुरु की शिक्षा को धारण करो। मन की स्थिरता का एकमात्र उपाय निजरूप सुन्दर लोक में विचरना ही है अर्थात् आत्मा का अनुभव करना ही है; आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान ही है; आत्मा की रमणता ही है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि लोकभावना की विषय-वस्तु के विस्तार में जावें तो उसमें लगभग सम्पूर्ण लोकालोक ही समाहित हो जाता है; जो कुछ भी जिनागम में कहा गया है, वह सब कुछ आ जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिनागम में प्रतिपादित सम्पूर्ण विषय-वस्तु के सम्बन्ध में आत्मानुभवी संत और ज्ञानी श्रावक जो कुछ भी आत्मोन्मुखी चिन्तन करते हैं, वह सब लोकानुप्रेक्षा का ही चिन्तन है; पर यह आवश्यक है कि उस चिन्तन की दिशा भेदविज्ञानपरक और वैराग्यप्रेरक होना चाहिए।

ज्ञेयरूप संयोगों, हेयरूप पुण्य-पापास्रवों एवं उपादेयरूप संवर-निर्जरा की चर्चा के उपरान्त लोकभावना में - समस्त लोक जिसके ज्ञानदर्पण में प्रतिबिंबित होता है, उस आत्मा का सम्पूर्ण लोक में क्या स्थान है और वह कौन है? -

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृष्ठ १२७

यह चिन्तन किया जाता है। निजतत्त्व की तीव्रतम रुचि जागृत करने के लिए निजतत्त्व की मुख्यता से किया गया लोक का चिन्तन ही लोकभावना है।

भावनाओं का स्वरूप और चिन्तन-प्रक्रिया विवेचनात्मक या निरूपणात्मक न होकर वैराग्यप्रेरक एवं आत्मोन्मुखी होने से लोकभावना के संदर्भ में 'लोक' शब्द का अर्थ 'आत्मा' भी किया जाता रहा है। जिसमें सम्पूर्ण लोक आलोकित हो - ऐसा आत्मा ही चैतन्यलोक है। लोक शब्द की इसप्रकार की व्याख्याएँ भी की जाती रहीं।

भगवती आराधना में इसे सतर्क सिद्ध किया गया है, जो इसप्रकार है -

यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यं लोक एवोच्यते। कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्।[१]

यद्यपि लोक अनेकप्रकार का है अर्थात् लोक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; तथापि यहाँ लोक शब्द से जीवद्रव्य को ही लोक कहा जा रहा है; क्योंकि यहाँ जीव की धर्मप्रवृत्ति का प्रकरण चल रहा है।''

वृहद्द्रव्यसंग्रह में व्यवहार-लोकभावना का इकतीस पृष्ठों में निरूपण करने के उपरान्त अन्त में निश्चय-लोकभावना का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जिसप्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकते हैं; उसीप्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाले परमात्मा के सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान में शुद्धात्मा आदि सभी पदार्थ आलोकित होते हैं, दिखाई देते हैं, ज्ञात होते हैं - इसकारण वह आत्मा ही निश्चयलोक है अथवा उस निश्चयलोकरूप निजशुद्धात्मा में अवलोकन ही निश्चयलोक है।

तथा समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों के त्यागपूर्वक निजशुद्धात्म भावना से उत्पन्न परमसुखामृतरस के स्वाद के अनुभवरूप, आनन्दरूप जो भावना है; वही निश्चय से लोकभावना है, शेष सब व्यवहार है।[२]''

---

१. भगवती आराधना, गाथा १७९२ की उत्थानिका, पृष्ठ ७९८

२. वृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ १६२-१६३

इसप्रकार यह निश्चित होता है कि लोभावना में लोक के स्वरूप, आकार-प्रकार एवं जीवादि पदार्थों का जो विस्तृत विवेचन किया जाता है; वह सब तो व्यवहार है, निश्चयलोक तो चैतन्यलोक ही है। उस चैतन्यलोक में रमण करना एवं रमण करने की उग्रतम भावना ही निश्चय-लोकभावना है; क्योंकि लोकभावना के चिन्तन का असली उद्देश्य तो आत्माराधना की सफल प्रेरणा ही है।

अत: सभी आत्मार्थीजन षट्द्रव्यमयी लोक को जानकर निज चैतन्यलोक में ही जम जाय, रम जाय और अनन्तसुखी हों - इस पावन भावना से विराम लेता हूँ। ●

अनन्य रुचि जागृत करनी होगी

हमें आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है, जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे, जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बंधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे, जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों।

आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नहीं सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच जाना कैसे संभव है? जब हमारी इतनी रुचि नहीं कि उसे अखण्डरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवें?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा; उसे पूरा करके ही दम लेते हैं, उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते है। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं?

यदि नहीं, तो निश्चित समझिए हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं, जितनी विषय-कषाय में है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के नियमानुसार हमारी सम्पूर्ण शक्ति वही लगती है, जहाँ रुचि होती है। स्वाध्यायतप के उपचार को भी प्राप्त करने के लिए हमें आध्यात्मिक साहित्य में अनन्य रुचि जागृत करनी होगी।

- धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १११-११२

बोधिदुर्लभभावना

इन्द्रियों के भोग एवं भोगने की भावना ।
हैं सुलभ सब दुर्लभ नहीं है इन सभी का पावना ॥
है महादुर्लभ आत्मा को जानना पहिचानना ।
है महादुर्लभ आत्मा की साधना आराधना ॥ १ ॥

पंचेन्द्रियों के भोग एवं उन्हें भोगने की भावना का प्राप्त होना दुर्लभ नहीं, सुलभ ही है; पर आत्मा को जानना, पहिचानना एवं आत्मा की साधना और आराधना महादुर्लभ है।

नर देह उत्तम देश पूरण आयु शुभ आजीविका ।
दुर्वासना की मंदता परिवार की अनुकूलता ॥
सत् सज्जनों की संगती सद्धर्म की आराधना ।
है उत्तरोत्तर महादुर्लभ आत्मा की साधना ॥ २ ॥

मनुष्यभव की प्राप्ति होना, उत्तम आर्य देश में जन्म होना, परिपूर्ण आयु की प्राप्ति होना, न्यायोपात्त अहिंसक आजीविका के साधन उपलब्ध होना, दुर्वासनाओं का मन्द होना, धर्मानुकूल परिजनों की प्राप्ति होना, सत्य पदार्थ और सज्जनों की संगति प्राप्त होना, सद्धर्म की आराधना के भाव होना एवं आत्मा की साधना करने की वृत्ति होना क्रमशः एक से एक महादुर्लभ हैं।

जब मैं स्वयं ही ज्ञेय हूँ जब मैं स्वयं ही ज्ञान हूँ ।
जब मैं स्वयं ही ध्येय हूँ जब मैं स्वयं ही ध्यान हूँ ॥
जब मैं स्वयं आराध्य हूँ जब मैं स्वयं आराधना ।
जब मैं स्वयं ही साध्य हूँ जब मैं स्वयं ही साधना ॥३॥

पर एक बात यह भी तो है कि जब मैं स्वयं ही ज्ञेय हूँ और मैं स्वयं ही ज्ञान हूँ; जब मैं स्वयं ही ध्येय हूँ और मैं स्वयं ही ध्यान भी हूँ; इसीप्रकार जब मैं स्वयं ही आराध्य हूँ और मैं स्वयं ही आराधना भी हूँ तथा जब मैं स्वयं ही साध्य हूँ और साधना भी मैं स्वयं ही हूँ।

जब जानना पहिचानना निज साधना आराधना ।
ही बोधि है तो सुलभ ही है बोधि की आराधना ॥
निज तत्त्व को पहिचानना ही भावना का सार है ।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥४॥

जब निज को जानना, पहिचानना एवं निज की साधना, आराधना ही बोधि है; तो फिर बोधि की आराधना दुर्लभ कैसे हो सकती है? सुलभ ही समझना चाहिए। अत: बोधिदुर्लभभावना का सार निजतत्त्व को पहिचानना ही है और ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की आराधना ही आराधना का सार है।

वास्तविक कर्त्तव्य

सामाजिक संगठन और शान्ति बनाए रखना और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त प्रगतिशील समाज की स्थापना ही तो इस बहुमूल्य नरभव की सार्थकता नहीं है, इस मानव जीवन में तो आध्यात्मिक सत्य को खोजकर, पाकर, आत्मिक शान्ति प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना ही वास्तविक कर्त्तव्य है।

- सत्य की खोज, पृष्ठ २५२

बोधिदुर्लभभावना : एक अनुशीलन

नर देह उत्तम देश पूरण आयु शुभ आजीविका।
दुर्वासना की मंदता परिवार की अनुकूलता॥
सत् सज्जनों की संगती सद्धर्म की आराधना।
है उत्तरोत्तर महादुर्लभ आत्मा की साधना॥

षट्द्रव्यमयी इस लोक में न तो ज्ञेयरूप संयोग ही दुर्लभ हैं और न संयोगीभावरूप आस्रवभाव; क्योंकि हम सभी को ये तो अनन्तों बार प्राप्त हो चुके हैं और यदि अब भी अपने को नहीं जाना, नहीं पहिचाना तो भविष्य में भी मिलते रहेंगे। दुर्लभ तो एकमात्र अपने को जानना है, पहिचानना है, अपने में ही जमना है, रमना है; क्योंकि अनादिकाल से अबतक और सब-कुछ मिला, पर सहीरूप में हम अपने को पहिचान नहीं सके हैं, जान नहीं सके हैं। यदि हमने अपने को सहीरूप में जान लिया होता, पहिचान लिया होता तो अबतक इस लोक में भटकते ही न रहते, अपितु लोकाग्र में विद्यमान सिद्धशिला में विराजमान होते; मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम का अभाव कर अनंत सुखी हो गये होते; अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य के धनी हो गये होते; अतीन्द्रियानन्दस्वरूप सिद्धशिला को प्राप्त हो गये होते।

हमारी यह वर्तमान दुर्दशा, दु:खरूप दशा एकमात्र अपने को नहीं पहिचान पाने के कारण ही हो रही है, नहीं जान पाने के कारण हो रही है; अत: इस दुर्लभ अवसर का उपयोग, नरभव का एकमात्र सदुपयोग, अपने को जानने-पहिचानने के महादुर्लभ कार्य कर लेने में ही है।

अपने को जानना, पहिचानना एवं अपने में लीन हो जाना ही बोधि है - दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि ही इस जगत में दुर्लभ

है, महादुर्लभ है और इस बोधि की दुर्लभता का विचार, चिन्तन, बार-बार चिन्तन ही बोधिदुर्लभभावना है।

इसी दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि का अत्यन्त आदर करने का आदेश देते हुए स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं -

"इय सव्व दुलह-दुलहं दंसणणाणं तहाचरित्तं च।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हंपि॥[१]

इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को संसार की समस्त दुर्लभ वस्तुओं से भी दुर्लभ जानकर इनका अत्यन्त आदर करो।"

बोधि और समाधि का अन्तर वृहद्द्रव्यसंग्रह की संस्कृत टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति।[२]

अप्राप्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्राप्त होना बोधि है और उन्हीं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना समाधि है।"

यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - इन तीनों को या तीनों की एकता को बोधि कहते हैं; तथापि बोधिदुर्लभभावना की चर्चा करते हुए अनेक स्थानों पर अकेले 'सम्यग्ज्ञान' या 'पहिचान' शब्द का प्रयोग भी किया गया है; परन्तु आशय सर्वत्र एक ही है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है; क्योंकि इन तीनों की उत्पत्ति एक साथ ही होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं 'सण्णाणं' शब्द का प्रयोग करते हैं -

"उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवायेण तस्सुवायस्स।
चिन्ता हवेई बोही अच्चन्तं दुल्लहं होदि॥[३]

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो, उस उपाय का अत्यन्त चिन्तन अर्थात् बार-बार चिन्तन-मनन ही बोधिदुर्लभभावना है।"

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३०१
२. वृहदद्रव्यसंग्रह गाथा ३६ की टीका, पृष्ठ १६४
३. बारस अणुवेक्खा, गाथा ८३

हिन्दी कवियों ने भी इसप्रकार के प्रयोग बहुत किये हैं, जिनमें कुछ इसप्रकार हैं -

" अंतिम ग्रीवक लों की हद, पायो अनंत बिरियाँ पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधो, दुर्लभ निज में मुनि साधो॥[१]

यह जीव, व्यवहाररत्नत्रय धारण करके नौवें ग्रैवेयक तक तो अनन्तबार पहुँचा, पर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति न कर पाने के कारण संसार में ही भटकता रहा। निश्चयरत्नत्रय धारण करनेवाले मुनिराज निज में उस सम्यग्ज्ञान की साधना करते हैं।

धन-कन-कंचन राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥[२]

इस संसार में धन-धान्य, सोना-चाँदी और राजसुख आदि तो सबको सुलभ हैं; किन्तु यर्थाथज्ञान ही एकमात्र दुर्लभ है।

सब व्यवहार क्रिया को ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान।
निपट कठिन अपनी पहिचान, ताको पावत हो कल्यान॥[३]

इस जीव को व्यावहारिक क्रियाओं का ज्ञान तो अनन्तबार हुआ है, पर एकमात्र अपनी पहिचान ही अत्यन्त कठिन है। यदि अपनी सच्ची पहिचान हो जावे तो कल्याण होते देर न लगे।"

उक्त छन्दों में कहीं मात्र अपनी पहिचान को दुर्लभ बताया गया है तो कहीं मात्र सम्यग्ज्ञान या यथार्थज्ञान को; पर गहराई में जाकर देखें तो आशय सर्वत्र एक ही है। सर्वत्र एक ही ध्वनि है कि पुण्यवानों को दुनिया में सभी संयोग सहज उपलब्ध हो जाते हैं, हमें भी समय-समय पर सभी अनुकूल-प्रतिकूल संयोग प्राप्त होते रहे हैं; पर एक यथार्थज्ञान, अपनी पहिचान आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ के बिना सहज सुलभ नहीं है। अतः पुण्योदय से प्राप्त भोगों में न

---

१. पण्डित दौलतरामजी : छहढाला; पंचम ढाल, छन्द १३
२. कविवर भूधरदासजी कृत बारह भावना
३. कविवर बुधजनजी कृत बारह भावना

उलझकर सम्पूर्ण शक्ति से अपने को जानो, पहिचानो और अपने में ही जम जावो, रम जावो - सुखी होने का एक मात्र यही उपाय है।

बोधि की दुर्लभता का गहराई से अनुभव हो - इसके लिए निगोद से लेकर उत्तरोत्तर दुर्लभता का बड़े ही मार्मिक ढंग से चिन्तन किया जाता रहा है। कविवर मंगतराय कृत बारह भावना में इसे इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

"दुर्लभ है निगोद से थावर अरु त्रस गति पानी।
नरकाया को सुरपति तरसे सो दुर्लभ प्राणी॥
उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ श्रावक कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ संयम पंचम गुणठाना॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षा का धरना।
दुर्लभ मुनिवर को व्रत पालन शुद्धभाव करना॥
दुर्लभ तैं दुर्लभ है चेतन बोधिज्ञान पावै।
पाकर केवलज्ञान नहीं फिर इस भव में आवै॥"

आचार्य पूज्यपाद बोधि की इस दुर्लभता को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से यह सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है। जिसप्रकार बालू के समुद्र में गिरी हुई वज्रसिकता की कणिका का मिलना दुर्लभ है; उसीप्रकार स्थावर जीवों से भरे हुए इस भवसागर में त्रसपर्याय का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

त्रसपर्याय में विकलत्रयों (द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रियों) की बहुलता है। जिसप्रकार गुणों के समूह में कृतज्ञता का मिलना अतिदुर्लभ है; उसीप्रकार त्रसपर्याय में पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। पंचेन्द्रिय पर्याय में भी पशु, मृग, पक्षी और सर्पादि तिर्यञ्चों की ही बहुलता है। अत: जिसप्रकार चौराहे पर पड़ी हुई रत्नराशि का प्राप्त होना कठिन है; उसीप्रकार मनुष्यपर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है।

यदि एक बार मनुष्यपर्याय मिल भी गई तो फिर उसका दुबारा मिलना तो इतना कठिन है कि जितना जले हुए वृक्ष के परमाणुओं का पुन: उस वृक्ष

पर्यायरूप होना कठिन होता है। कदाचित् इसकी प्राप्ति पुनः हो भी जावे तो भी उत्तम देश, उत्तम कुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ और स्वस्थ शरीर की प्राप्ति उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए। इन सबके मिल जाने पर भी यदि सच्चे धर्म की प्राप्ति न हुई तो जिसप्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ है; उसीप्रकार सद्धर्म बिना मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है।

इसप्रकार अति कठिनता से प्राप्त धर्म को पाकर भी विषयसुख में रंजायमान होना भस्म के लिए चन्दन जला देने के समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो भी तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सहज समाधि का, सुख से मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है - ऐसा विचार करना ही बोधिदुर्लभभावना है।[१]''

त्रसपर्याय की दुर्लभता से लेकर रत्नत्रय बोधि की दुर्लभता तक की अनेक दुर्लभताओं में मनुष्यपर्याय की दुर्लभता एक बीच का बिन्दु है। वह एक ऐसा बिन्दु है, जहाँ तक का अतिकठिन रास्ता जैसे भी हो, पर हम सबने पार कर लिया है। उससे भी आगे आर्य देश, उत्तम कुल, वीतरागी धर्म और उसका श्रवण भी हमें सहज उपलब्ध हो गया है।

इस महान उपलब्धि की सार्थकता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि की उपलब्धि में ही है। यदि इस महादुर्लभ मानव जीवन को पाकर भी हमने बोधि की प्राप्ति नहीं की तो इसका पाना, न पाना बराबर ही समझना चाहिए।

यही कारण है कि आचार्य पूज्यपाद के उक्त कथन में मनुष्यभव की दुलर्भता की बात दो बार कही गई है; यह भी चेतावनी दी गई है कि यदि यह मनुष्यभव विषय-कषाय के सेवन में यों ही चला गया तो फिर दुबारा मिलना उससे भी अतिकठिन है।

अतः एक के बाद एक इतनी कठिनाइयों से प्राप्त इस अवसर को यों ही गवाँ देना कहाँ की समझदारी है? जबतक विचाररहित असैनी पर्यायों में था, तबतक तो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ का कोई अवसर ही न था; फिर भी सहज

---

१. सर्वार्थसिद्धि; अध्याय ९, सूत्र ७ की टीका

क्रमबद्धपरिणमन के कारण इस अवस्था को प्राप्त हो गया। पर अब तो सर्वप्रकार अनुकूलता है, विचारशक्ति सहित हैं; अत: सर्वउद्यम से महादुर्लभ बोधि की उपलब्धि में संलग्न हो जाना ही श्रेयस्कर है।

निरंतर किया गया इसप्रकार का आत्मोन्मुखी पुरुषार्थप्रेरक चिन्तन ही बोधिदुर्लभभावना है।

बोधिदुर्लभभावना की उक्त चिन्तन-प्रक्रिया के अतिरिक्त निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक एक और प्रक्रिया भी पाई जाती है; जिसमें चिन्तन का प्रकार ऐसा होता है कि बोधि तो अपना स्वभाव है, वह दुर्लभ कैसे हो सकता है? जब अपना स्वभावभाव ही दुर्लभ होगा तो फिर सहजसुलभ क्या होगा? हमने अपने अज्ञान एवं अरुचि से उसे दुर्लभ बना रखा है, वस्तुत: तो वह सहजसुलभ ही है।

इस संदर्भ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना का निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है -

"बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि तो आत्मा का स्वभाव है; अत: निश्चय से दुर्लभ नहीं है। संसार में उसकी प्राप्ति कठिन है - यह तो मात्र व्यवहार से कहा जाता है।"

इसीप्रकार का भाव भैया भगवतीदासजी ने व्यक्त किया है -

"दुर्लभ परद्रव्यनि को भाव, सो तोहि दुर्लभ है सुनि राव।
जो है तेरो ज्ञान अनन्त, सो नहिं दुर्लभ सुनो महंत॥[१]

परपदार्थों की प्रवृत्ति अपने आधीन न होने से परद्रव्यों के भाव ही वस्तुत: दुर्लभ हैं। हे आत्मन्! तेरा जो अनन्तज्ञानरूप भाव है, वह किसी भी रूप में दुर्लभ नहीं है।"

---

१. भैया भगवतीदासजी कृत बारह भावना

इस चिन्तन-प्रक्रिया का आशय यह है कि जगत् में अपनी वस्तु की प्राप्ति सुलभ और परवस्तु की प्राप्ति दुर्लभ मानी जाती है। गहराई में जाकर विचार करें तो यह बात सत्य भी प्रतीत होती है; क्योंकि जो अपनी वस्तु है, वह तो सदा उपलब्ध ही है, उसकी प्राप्ति दुर्लभ कैसे हो सकती है? पर यहाँ बात ज्ञानस्वभाव की नहीं; अपितु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभावपर्याय की है, जो अनादि से उपलब्ध नहीं है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभाव-पर्याय अनादि से नहीं है; तथापि अनादि-अनन्त सदा उपलब्ध ज्ञानस्वभाव के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन, जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और उसी में जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है; अतः सदा उपलब्ध त्रिकाली ध्रुव आत्मा के दर्शन भी स्वाधीन होने से सुलभ ही हैं। जबकि लौकिक संयोग पराधीन होने से सहज सुलभ नहीं, दुर्लभ हैं।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि एक ओर तो रत्नत्रयरूप बोधि को महादुर्लभ बताया जा रहा है और दूसरी ओर सुलभ। दोनों में सत्य क्या है?

भाई! उक्त दोनों प्रकार के कथन परस्पर विरोधी नहीं, अपितु एक-दूसरे के पूरक ही हैं। इस बात को समझने के लिए हमें बारह भावनाओं की चिन्तन-प्रक्रिया के मूल में जाना होगा, उसका उद्देश्य समझना होगा।

लोकभावना और धर्मभावना के बीच में समागत बोधिदुर्लभभावना का मूल अभिप्रेत यह है कि यह आत्मा इस षट्द्रव्यमयी विस्तृत लोक से दृष्टि हटाकर ज्ञानानन्दस्वभावी निजलोक को जानकर-पहिचानकर, उसी में जम जाने, रम जानेरूप रत्नत्रयस्वरूप धर्मदशा को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर अनन्त सुखी हो।

अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम उपलब्ध मनुष्यपर्याय की दुर्लभता का भान कराया जाता है और फिर उसकी सार्थकता के लिए रत्नत्रय प्राप्त करने की प्रेरणा देने के लिए रत्नत्रय की दुर्लभता का भान कराया जाता है। तदर्थ भरपूर प्रेरणा भी दी जाती है। साथ ही संयोग अनेक बार उपलब्ध हो गये हैं - यह बताकर उनके प्रति विद्यमान आकर्षण को कम किया जाता है।

किन्तु जब यह जीव बोधिलाभ को अत्यन्त कठिन मानकर अनुत्साहित होकर पुरुषार्थहीन होने लगता है, तो उसके उत्साह को जाग्रत रखने के लिए उसकी सुलभता का ज्ञान भी कराया जाता है।

अत: बोधि की दुर्लभता और सुलभता - दोनों ही एक ही उद्देश्य की पूरक हैं और काल्पनिक भी नहीं, अपितु सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। बोधिलाभ स्वाधीन होने से सुलभ भी है और अनादिकालीन अनुपलब्धि एवं अनभ्यास के कारण दुर्लभ भी।

प्रश्न : बोधिदुर्लभ नाम से तो यही प्रतीत होता है कि जिनागम को बोधि की दुर्लभता बताना ही इष्ट है?

उत्तर : ऊपर से देखने पर तो ऐसा ही प्रतीत होगा और अधिकतर चिन्तन भी इसीप्रकार का उपलब्ध होता है, पर गहराई से विचार करें तो बोधि की दुर्लभता के सम्यक् स्वरूप के चिन्तन के साथ-साथ बोधि की सुलभता का चिन्तन भी जिनागम को अभीष्ट है। बोधि की दुर्लभता और सुलभता का सम्यक् स्वरूप यह है कि जबतक सैनी पंचेन्द्रिय दशा की उपलब्धि न हो, तबतक तो बोधिलाभ महादुर्लभ है ही, किन्तु मनुष्यपर्याय में भी अनभ्यास के कारण दुर्लभ ही है; तथापि जो ठान ले, उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं, सब सुलभ है; पुरुषार्थी के लिए क्या सुलभ और क्या दुर्लभ? सब सुलभ ही है; क्योंकि प्रत्येक भावना के चिन्तन का स्वरूप पुरुषार्थ प्रेरक ही होता है।

बोधिदुर्लभभावना के चिन्तन का वास्तविक स्वरूप यही है कि जबतक हम जाग्रत नहीं हुए, तबतक महादुर्लभ और आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ के लिए कमर कसकर सन्नद्ध लोगों के लिए महासुलभ है।

यदि हम 'बोधिदुर्लभ' नाम से मात्र दुर्लभता ही लेंगे तो फिर 'आस्रव' नाम से मात्र आस्रवों के विचार तक और अशुचि नाम से मात्र अशुचिता की बात तक ही सीमित रहना होगा; जबकि आस्रवभावना में आस्रवों के स्वरूप की अपेक्षा उनकी हेयता पर एवं अशुचिभावना में देह की अशुचिता की अपेक्षा उससे विरक्ति पर अधिक बल दिया जाता है; आत्मा की उपादेयता और परमपवित्रता पर भी भरपूर चिन्तन किया जाता है।

बोधिदुर्लभभावना में बोधि की दुर्लभता बताकर उनकी प्राप्ति के लिए सतर्क किया जाता है और सुलभता बताकर उसके प्रति अनुत्साह को निरुत्साहित किया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि बोधिदुर्लभभावना के चिन्तन में दोनों पक्ष समानरूप से उपयोगी हैं, आवश्यक हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं।

प्रश्न : बोधिदुर्लभभावना में कहीं-कहीं संयोगों को सुलभ भी तो बताया गया है; क्योंकि वे अनन्तबार प्राप्त हो चुके हैं, जैसा कि निम्नांकित छन्द से स्पष्ट है -

'अन्तिम ग्रीवक लों की हद, पायो अनन्त बिरियाँ पद।'[१]

- और कहीं-कहीं उन्हें महादुर्लभ भी बताया गया है। जैसा कि सर्वार्थसिद्धि के उद्धरण से स्पष्ट है; जिसमें बताया गया है कि त्रसपर्याय, पंचेन्द्रियपना, मानवजीवन, आर्यदेश और वीतरागधर्म की प्राप्ति उत्तरोत्तर महादुर्लभ है। वास्तविक स्थिति क्या है - संयोग सुलभ हैं या दुर्लभ?

उत्तर : भाई! जिसप्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से बोधिलाभ सुलभ भी है, दुर्लभ भी; उसीप्रकार संयोग भी किसी अपेक्षा सुलभ है और किसी अपेक्षा दुर्लभ। अनन्तबार प्राप्त हो चुके हैं, इसलिए सुलभ ही हैं, सुलभ कहना अनुचित नहीं है; पर अपनी इच्छानुसार मिलना संभव न होने से महादुर्लभ भी हैं, दुर्लभ कहना भी असंगत नहीं है।

चित्त में जमी संयोगों की अनन्त महिमा कम करने के लिए 'उन्हें अनन्तबार भोग लिये' - कहकर सुलभ कहा जाता है, उनसे विरक्ति उत्पन्न की जाती है और आत्माराधना की प्रेरणा देने के लिए आत्माराधना के अनुकूल संयोगों की दुर्लभता का ज्ञान भी कराया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि बोधिदुर्लभभावना में संयोगों की सुलभता व दुर्लभता एवं बोधिलाभ की सुलभता व दुर्लभता- चारों ही चिन्तन किया जाता

---

१. पण्डित दौलतरामजी : छहढाला; चतुर्थ ढाल, छन्द १३

है; क्योंकि बोधि की दुर्लभता के चिन्तन का यही वास्तविक स्वरूप है। इसमें उक्त चारों बिन्दुओं का गंभीर चिन्तन समाहित हो जाता है।

यह चित्त अनादिकाल से संयोगों में ही अनुरक्त है; अत: सर्वप्रथम अनेकों बार प्राप्त कर लेने के पक्ष को उजागर कर, उन्हें सुलभ बताकर, उच्छिष्ट बताकर; उनसे विरक्ति उत्पन्न की जाती है और आजतक प्राप्त न होने के आधार पर बोधिलाभ को दुर्लभ बताकर उसके प्रति अनुरक्ति उत्पन्न की जाती है। तत्पश्चात् बोधिलाभ की अतिदुर्लभता का भान कराने के लिए उन संयोगों को भी दुर्लभ बताया जाता है, जिन संयोगों में बोधिलाभ की प्राप्ति संभव होती है; किन्तु जब चित्त बोधिलाभ की दुर्लभता से आक्रान्त होकर शिथिल होने लगता है तो स्वाधीनता के आधार पर बोधिलाभ की सुलभता बताकर उसे प्राप्त कर लेने के लिए पुरुषार्थ को जाग्रत किया जाता है, उत्साह को बढ़ाया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि बोधिदुर्लभभावना में चाहे संयोगों की सुलभता बताई जा रही हो, चाहे दुर्लभता; चाहे बोधिलाभ की सुलभता बताई जा रही हो, चाहे दुर्लभता; पर उसकी चिन्तन-प्रक्रिया की दिशा रत्नत्रयधर्म की उत्पत्ति, वृद्धि एवं पूर्णता को बल प्रदान करने की ओर ही रहती है।

इस बोधिदुर्लभभावना की महिमा अपार है, अपरम्पार है। इसके गीत जितने भी गाये जायें, कम हैं; क्योंकि यह आत्महित की ओर अग्रसर करनेवाली परमपावन भावना है। पुरुषार्थ को जागृत करनेवाली यह बोधिदुर्लभभावना रत्नत्रयरूप धर्म धारण करने की पावन प्रेरणा है; उपलब्ध धर्मपरिणति को नित्य वृद्धिंगत करनेवाली, पूर्णता की ओर ले जानेवाली समर्थ साधना है; शुभाशुभभावविध्वंसनी आनन्दजननी यह भावना ध्रुवधाम निज परमात्मा की परमाराधना है।

- ऐसी इस बोधिदुर्लभभावना का स्वरूप भली-भाँति समझकर सभी आत्मार्थीजन दुर्लभ बोधि को अपने प्रबल पुरुषार्थ से सहज सुलभ बनाकर इसी भव में उपलब्ध कर लें - इसी पावन भावना और प्रेरणा के साथ विराम लेता हूँ।

धर्मभावना

निज आतमा को जानना पहिचानना ही धर्म है।
निज आतमा की साधना आराधना ही धर्म है॥
शुद्धात्मा की साधना आराधना का मर्म है।
निज आतमा की ओर बढ़ती भावना ही धर्म है॥ १॥

अपनी आत्मा को जानना, पहिचानना ही धर्म है। इसीप्रकार अपनी आत्मा की साधना, आराधना भी धर्म है। आराधना का मर्म निज आत्मा की साधना ही है। निज आत्मा की ओर बढ़ती हुई भावना ही धर्मभावना है।

कामधेनु कल्पतरु संकटहरण बस नाम के।
रतन चिन्तामणी भी हैं चाह बिन किस काम के॥
भोगसामग्री मिले अनिवार्य है पर याचना।
है व्यर्थ ही इन कल्पतरु चिन्तामणी की चाहना॥ २॥

कामधेनु और कल्पवृक्ष नाममात्र के ही संकटहरण हैं। जिसे कोई चाह नहीं है, उसे चिन्तामणी रत्न भी किस काम के हैं? यद्यपि इनसे भोगसामग्री उपलब्ध हो जाती है; पर बिना माँगे नहीं, याचना करना अनिवार्य है और माँगने को तो मरने से भी बुरा कहा गया है। अत: इनकी चाह करना व्यर्थ ही है।

धर्म ही वह कल्पतरु है नहीं जिसमें याचना।
धर्म ही चिन्तामणी है नहीं जिसमें चाहना॥
धर्मतरु से याचना बिन पूर्ण होती कामना।
धर्म चिन्तामणी है शुद्धात्मा की साधना॥ ३॥

धर्म एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिससे याचना की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीप्रकार धर्म ही ऐसा चिन्तामणी रत्न है, जिससे कुछ चाहना नहीं पड़ता। धर्मरूपी कल्पवृक्ष से माँगे बिना ही कामनाएँ पूर्ण होती हैं अथवा कामनाएँ ही समाप्त हो जाती हैं। शुद्धात्मा की साधना ही सच्चा धर्म चिन्तामणि है, जिससे बिना चिन्तन के ही सर्व चिन्ताएँ समाप्त हो जाती हैं।

शुद्धातमा की साधना अध्यात्म का आधार है।
शुद्धातमा की भावना ही भावना का सार है॥
वैराग्यजननी भावना का एक ही आधार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥ ४॥

आध्यात्मिक जीवन का आधार एक शुद्धात्मा की साधना ही है और शुद्धात्मा की भावना ही धर्मभावना का या बारह भावनाओं का सार है। बैराग्योत्पादक धर्मभावना या बारह भावनाओं का एक मात्र आधार निज शुद्धात्मा ही है और ध्रुवधाम निज भगवान की आराधना ही आराधना का सार है।

क्रान्ति तो एक आँधी है, जो धूल उड़ाती आती है और सड़ी-गली पुरानी व्यवस्था उखाड़ती-पछाड़ती चली आती है। नई सही व्यवस्था तो शान्तिकाल में ही जमती है। यदि क्रान्ति से सच्चा लाभ लेना है, तो क्रान्ति के बाद सहज प्राप्त होने वाले शान्तिकाल का सही उपयोग कर लेना ही बुद्धिमानी है। क्रान्ति में हृदय-पक्ष की प्रधानता रहती है, भावना-पक्ष प्रधान रहता है, पर शान्तिकाल में बुद्धि की परीक्षा की घड़ी आती है। क्रान्ति विध्वंस करती है और शान्ति निर्माण।

- सत्य की खोज, पृष्ठ २३७

धर्मभावना : एक अनुशीलन

निज आतमा को जानना पहिचानना ही धर्म है।
निज आतमा की साधना आराधना ही धर्म है॥
शुद्धातमा की साधना आराधना का मर्म है।
निज आतमा की ओर बढ़ती भावना ही धर्म है॥

आरंभिक नौ भावनाओं में ज्ञेयरूप संयोग, हेयरूप आस्रवभाव एवं उपादेयरूप संवर-निर्जरा के सम्यक् चिन्तन के उपरान्त लोक और बोधि-दुर्लभभावना में यह विचार किया गया है कि इस षट्द्रव्यमयी पुरुषाकार लोक में रत्नत्रयरूप बोधि की उपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है। चूँकि रत्नत्रयरूप बोधि ही वास्तविक धर्म है; अतः इस धर्मभावना में निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का ही विचार किया जाता है, चिन्तन किया जाता है, धर्म की ही बारंबार भावना भाई जाती है।

धर्म का स्वरूप आचार्य समन्तभद्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥[१]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धर्म के ईश्वर सर्वज्ञदेव धर्म कहते हैं। यदि यही दर्शन-ज्ञान-चारित्र मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हों, तो संसार को बढ़ानेवाले हैं।"

धर्मभावना का क्षेत्र असीम है; क्योंकि उसमें एक प्रकार से सम्पूर्ण चरणानुयोग ही समाहित हो जाता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में सर्वाधिक स्थान

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, छन्द ३

घेरनेवाली धर्मभावना ही है। १८५ गाथाओं में फैली इस भावना में श्रावकधर्म और मुनिधर्म का सांगोपांग विवेचन किया गया है; जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विस्तृत विवेचन के उद्देश्य से देव-शास्त्र-गुरु, सम्यग्दर्शन के आठ अंग, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ, दश धर्म, बारह तप एवं चार ध्यान आदि सभी विषय समा गये हैं।

इसी धर्मभावना के प्रकरण में प्रसंगानुसार वे क्रान्तिकारी महत्त्वपूर्ण गाथाएँ भी आई हैं, जिनमें सहज ही क्रमबद्धपर्याय[१] का महान सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ है, जो इस युग का सर्वाधिक चर्चित विषय है।

वे गाथाएँ मूलत: इसप्रकार हैं –

"जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा॥
एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥[२]

जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है।

इसप्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है; और जो इसमें शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।"

जहाँ एक ओर धर्मभावना को इतना विस्तार दिया गया है तो दूसरी ओर अनेक कवियों ने इसे एक-एक छन्द में भी समेट लिया है, जिनमें अधिकांशत: तो धर्म की महिमा बताकर धर्म धारण करने की पावन प्रेरणा ही दी गई है; अनेकों

---

१. क्रमबद्धपर्याय का सम्यक् स्वरूप विस्तार से जानने के लिए लेखक की अन्य कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का अध्ययन करें।

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३२१ से ३२३

में धर्म के स्वरूप को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। कविवर भूधरदास ने धर्म की महिमा बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त की है, जो इसप्रकार है –

"जाँचे सुरतरु देय सुख, चिन्तन चिन्ता रैन।
बिन जाँचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन॥[१]

कल्पवृक्ष संकल्प करने पर अथवा माँगने पर तथा चिन्तामणि रत्न चिन्तवन करने पर फल देता है; किन्तु धर्म से बिना माँगे व बिना चिन्तवन के ही उत्तम फल की प्राप्ति होती है।"

कहाँ एक ओर दीनतापूर्वक माँगने पर तुच्छ भोगसामग्री प्रदान करनेवाला कल्पवृक्ष और कहाँ बिना माँगे ही अद्भुत अतीन्द्रिय आनन्द देनेवाला धर्म? इसीप्रकार कहाँ चिन्ता करने पर चिन्तित मनोरथ को पूर्ण करनेवाला चिन्तामणि रत्न और कहाँ बिना चिन्तवन के ही अचिंत्य आनन्द देनेवाला महान धर्म?

भोला जगत भले ही चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष के गीत गाता हो, उनकी तुलना धर्म से करता हो; पर धर्म की तुलना में वे कहाँ ठहरते हैं? चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष दोनों ही अनन्तसुख-शान्ति देनेवाले पावन धर्म की समानता नहीं कर सकते।

इसप्रकार धर्मभावना में रत्नत्रय धर्म की अचिन्त्य महिमा बताकर जीवन को धर्ममय बना लेने की पावन प्रेरणा दी जाती है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि कल्पवृक्षों से दीनतापूर्वक नहीं माँगना पड़ता, अतः दीनतापूर्वक माँगने की बात क्यों कही जा रही है?

भाई! दीनता बिना माँगना संभव ही नहीं है। माँगने में दीनता आती ही है। माँगना स्वयं दीनता है, वह दीनतास्वरूप ही है। माँगने को तो मौत के समान कहा गया है –

"रहिमन वे नर मर गये, जो नर माँगन जाँय।
उनसे पहले वे मेरे, जिन मुख निकसत नाँय॥

---

१. कविवर भूधरदासजी कृत बारह भावना

रहीम कवि कहते हैं कि वे व्यक्ति मानो मर ही गये हैं, जो दूसरों के घर माँगने जाते हैं; क्योंकि जिनका स्वाभिमान मर गया, वे मेरे हुए के समान ही हैं; किन्तु स्वाभिमान खोकर माँगने पर भी जिनके मुख से इन्कार निकलता है, वे उनसे भी पहले मर चुके हैं – यह समझना चाहिए; क्योंकि समर्थ होने पर भी देने से इन्कार करना माँगने से भी बुरा है।''

अत: बिना माँगे अतीन्द्रियानन्द देनेवाले धर्म की तुलना में माँगने पर भोगसामग्री देनेवाले कल्पवृक्ष तुच्छ ही हैं।

धर्मभावना के सन्दर्भ में पावन प्रेरणा के साथ अतिसंक्षेप में धर्म का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले कतिपय कथन इसप्रकार हैं –

''जो भाव मोह तैं न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै॥[1]

दर्शनमोह और चारित्रमोह से भिन्न जो आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भाव हैं, वे ही धर्म हैं। जब यह जीव इन धर्मों को धारण करता है, तभी अचलसुख को प्राप्त करता है।

दर्शनज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि।
दया-क्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जानि॥[2]

दर्शन-ज्ञानमय ज्ञानचेतना ही आतमा का धर्म है; दया, क्षमा आदि तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय भी इसी में गर्भित जानने चाहिए।''

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक भी धर्मभावना का स्वरूप स्पष्ट किया गया है –

''जप तप संयम शील पुनि, त्याग धर्म व्यवहार।
'दीप' रमण चिद्रूप निज, निश्चय वृष सुखकार॥[3]

स्वयं को सम्बोधित करते हुए पंडित दीपचन्दजी कहते हैं कि हे आत्मन्! जप, तप, शील, संयम और त्याग आदि तो व्यवहारधर्म हैं; सच्चा सुख देनेवाला निश्चयधर्म तो चैतन्यस्वरूप निजपरमात्मा में रमणता ही है।''

१. पण्डित दौलतरामजी : छहढाला, पंचम ढाल, छन्द १४
२. पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना
३. पण्डित दीपचन्दजी कृत बारह भावना

इसीप्रकार का भाव आचार्य कुन्दकुन्द ने द्वादशानुप्रेक्षा में भी व्यक्त किया है। धर्मभावना में वे कार्तिकेयानुप्रेक्षा के समान ही श्रावक और मुनिधर्म का वर्णन करने के उपरान्त लिखते हैं –

"णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं॥[१]

निश्चयनय से यह आत्मा श्रावकधर्म और मुनिधर्म दोनों से ही भिन्न है; अतः मध्यस्थभाव से एक शुद्धात्मा का ही सदा चिन्तवन करना चाहिए।"

ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान शुद्धात्मा की आराधना ही वास्तविक धर्म है, निश्चयधर्म है; इसके बिना किया गया सर्व क्रियाकाण्ड निष्फल है, किंचित् मात्र भी कार्यकारी नहीं है – इस तथ्य का चिन्तन भी धर्मभावना में भरपूर किया जाता है। इस सन्दर्भ में कविवर बुधजन कृत बारह भावना का निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है –

"जिय न्हान-धोना तीर्थ जाना धर्म नाहीं जप-जपा।
तन नग्न रहना धर्म नाहीं धर्म नाहीं तप-तपा॥
वर धर्म निज आतमस्वभावी ताहि बिन सब निष्फला।
बुधजन धर्म निज धार लीना तिनहिं कीना सब भला॥

जीव का धर्म नहाना-धोना, तीर्थयात्रा करना, जप-तप करना, नग्नतन रहना नहीं है। श्रेष्ठ धर्म तो आत्मस्वभाव की रमणता ही है; उसके बिना नहाना-धोना, तीर्थयात्रा करना, जप-तप करना, नग्न रहना सभी निष्फल हैं, अकार्यकारी हैं। महाकवि बुधजन कहते हैं कि वही बुद्धिमान है – विद्वान है, जिसने निजात्मा की आराधनारूप निजधर्म धारण कर लिया है; उसने ही अपना और पराया सबका भला किया है।"

इसीप्रकार का भाव पंडित सदासुखदासजी ने भी व्यक्त किया है, जो इसप्रकार है –

---

१. बारस अणुवेक्खा, गाथा ८२

संसार में 'धर्म' ऐसा नाम तो समस्त लोक कहता है; परन्तु धर्म शब्द का अर्थ तो ऐसा है कि जो नरक-तिर्यञ्चादि गति में परिभ्रमणरूप दु:ख से आत्मा को छुड़ाकर उत्तम, आत्मिक, अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्षसुख में धरता है, वह धर्म है।

सो ऐसा धर्म मोल नहीं आता है; जो कि धन खर्च करके दान-सम्मानादिक द्वारा प्राप्त किया जावे। तथा किसी के द्वारा दिया नहीं जाता जो कि सेवा-उपासना से राजी करके लिया जावे। तथा मन्दिर, पर्वत, जल, अग्नि, देवमूर्ति व तीर्थादिकों में नहीं रखा है; जो कि वहाँ जाकर लाया जावे। तथा उपवास, व्रत, कायक्लेशादि तप एवं शरीरादि कृश करने से भी नहीं मिलता है। तथा देवाधिदेव के मन्दिर में उपकरणदान, मण्डलपूजनादि से, गृह छोड़कर वन-शमशान में बसने से एवं परमेश्वर के नाम जपने से भी धर्म प्राप्त नहीं होता है।

धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। पर में आत्मबुद्धि छोड़कर अपने ज्ञाता-दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव तथा ज्ञायकस्वभाव में ही प्रवर्तनरूप आचरण ही धर्म है। जब उत्तमक्षमादि दशलक्षणरूप अपने आत्मा का परिणमन तथा रत्नत्रयरूप परिणति तथा जीवों की दयारूप आत्मा की परिणति होती है, तब आत्मा स्वयं ही धर्मरूप होगा; परद्रव्य-क्षेत्र कालादिक तो निमित्तमात्र हैं। जब यह आत्मा रागादिरूप परिणति छोड़कर वीतरागरूप होता है, तब मन्दिर, प्रतिमा, तीर्थ, दान, तप, जप-समस्त ही धर्मरूप हैं; और यदि अपना आत्मा उत्तमक्षमादि वीतरागरूप सम्यग्ज्ञानरूप नहीं परिणमे तो कहीं भी धर्म नहीं है।

यहाँ शुभराग हो, वहाँ पुण्यबन्ध होता है। जहाँ अशुभराग-द्वेष-मोह हो, वहाँ पापबन्ध होता है। जहाँ शुद्ध श्रद्धान-ज्ञान-स्वरूपाचरणरूप धर्म है, वहाँ बन्ध का अभाव है। बन्ध का अभाव होने पर ही उत्तम सुख होता है; अत: वही धर्म है।[१]"

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक २ का भावार्थ

योगीन्दुदेव योगसार में लिखते हैं –

"जई-जर-मरण-करालियउ तो जिय धम्म करेहि।
धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ जिय अजरामर होहि॥
धम्मु ण पढियइँ होहि धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइँ।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था-लुचियइँ॥
राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ जो पंचम-गइ णेइ॥[१]

हे आत्मन! यदि तू जन्म-मरण से भयभीत है तो धर्म कर, धर्म रसायन का पान कर; जिससे तू अजर-अमर हो सके।

पर ध्यान रखना, धर्म पढ़ने मात्र से नहीं होता, पुस्तक और पिच्छी रखने से धर्म नहीं होता तथा किसी मठ में रहने से या केशलोंच कर लेने मात्र से भी धर्म नहीं होता। जो व्यक्ति राग-द्वेष को छोड़कर निज आत्मा में वास करता है, उसे ही जिनेन्द्र भगवान ने धर्म कहा है और वह धर्म ही पंचमगति को प्राप्त कराता है।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का एकमात्र तात्पर्य यह है कि निज भगवान आत्मा की आराधना ही वास्तविक धर्म है; क्योंकि निज भगवान आत्मा की आराधना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। पर और पर्याय से भिन्न निज आत्मा का अवलोकन ही सम्यग्दर्शन है, उसका परिज्ञान ही सम्यग्ज्ञान एवं उसमें ही लीनता-रमणता सम्यक्चारित्र है। इसे ही आत्मोपासना भी कहते हैं।

इसी दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मोपासना की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

"एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधक भावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥[२]

चाहे साध्यभाव से करे, चाहे साधकभाव से; पर मोक्षार्थियों को ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्म की ही उपासना करना चाहिए; क्योंकि उपासना के योग्य एक निज भगवान आत्मा ही है।"

१. समयसार, कलश १५
२. वही

उक्त आत्मदर्शन-ज्ञान-ध्यानरूप आत्मोपासना ही साक्षात् मोक्ष का मार्ग है; अतः यही परमधर्म है। इस परमधर्म की प्राप्ति के लिए बार-बार किया गया चिन्तन-मनन ही धर्मभावना है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब 'बोधि' और 'धर्म' दोनों शब्दों का अर्थ रत्नत्रयरूप धर्म ही होता है; तब फिर बोधिदुर्लभ और धर्म - ऐसी दो भावनायें पृथक्-पृथक् क्यों रखी गईं? - दोनों की विषयवस्तु में मूलभूत अन्तर क्या है?

यद्यपि यह सत्य है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को ही बोधि कहते हैं तथा वास्तविक धर्म भी यह रत्नत्रय ही है - इसप्रकार बोधि और धर्म एकार्थवाची ही हैं; तथापि बोधिदुर्लभभावना में बोधि की दुर्लभता अर्थात् रत्नत्रय की दुर्लभता का चिन्तन किया जाता है और धर्मभावना में धर्म अर्थात् रत्नत्रय के स्वरूप एवं महिमा का चिन्तन किया जाता है।

बोधिदुर्लभभावना में बोधि की दुर्लभता के साथ-साथ उन संयोगों की दुर्लभता का चिन्तन भी किया जाता है, जिन संयोगों के बिना बोधि की प्राप्ति संभव नहीं है अथवा जिन संयोगों में बोधि की प्राप्ति की संभावना रहती है। निराशा का वातावरण तोड़ने के लिए बोधि की सुलभता का स्वरूप भी स्पष्ट किया जाता है।

बोधिदुर्लभभावना में रत्नत्रयरूप धर्म की दुर्लभता और सुलभता का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है और धर्मभावना में रत्नत्रयरूप धर्म का स्वरूप व महिमा बताई जाती है। बोधिदुर्लभभावना में धर्म की दुर्लभता बताकर उसे प्राप्त कर लेने की सशक्त प्रेरणा दी जाती है और धर्मभावना में धर्म का स्वरूप स्पष्ट कर उसे धारण करने का मार्ग प्रशस्त किया जाता है।

प्रश्न : यदि ऐसी बात है तो फिर दोनों के नाम एकार्थवाची क्यों रखे गये?

उत्तर : दोनों के नाम एकार्थवाची कहाँ हैं? एकार्थवाची तो बोधि और धर्म शब्द हैं; पर भावनाओं के नाम बोधिभावना व धर्मभावना नहीं, बोधिदुर्लभभावना और धर्मभावना है। बोधिदुर्लभ शब्द का अर्थ धर्म नहीं, धर्म

की दुर्लभता है। हम इन भावनाओं को धर्मदुर्लभभावना और धर्मभावना भी कह सकते हैं।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो फिर ऐसा ही क्यों नहीं कहा? यदि ऐसा कहते तो कोई भ्रम भी उत्पन्न नहीं होता और दोनों का भाव भी स्पष्ट हो जाता।

उत्तर : समझनेवाले को तो भाव अभी भी स्पष्ट ही है, नहीं समझनेवालों को तब भी स्पष्ट नहीं होता; फिर और भी अनेक प्रश्न खड़े हो जाते। यह संक्षिप्तप्रिय जगत धर्मदुर्लभ को भी धर्म शब्द से ही अभिहित करता – ऐसी स्थिति में धर्म और धर्मदुर्लभभावना का भेद करना भी संभव न रहता।

बोधिदुर्लभभावना को भी अनेक स्थानों पर संक्षिप्तप्रियता और छन्दानुरोध से 'बोधि' शब्द से युगों से अभिहित किया जाता रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसप्रकार के प्रयोग किये हैं। इस सन्दर्भ में निम्नांकित गाथा द्रष्टव्य है –

"एवं जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि।
चिंतेज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य॥[१]

इसप्रकार अशुद्धनिश्चयनय से बोधि में हेयोपादेय व्यवस्था बनती है, पर शुद्धनिश्चयनय से बोधि में हेयोपादेयरूप विकल्प ही नहीं रहते हैं। संसार से विरक्ति के लिए मुनिजनों को इस बोधिभावना का चिन्तन करना चाहिए।"

उक्त कथन में बोधिदुर्लभभावना के अर्थ में मात्र 'बोधि' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। यही कारण है कि 'धर्म' और 'बोधि' शब्द एकार्थवाची होने पर भी इस ग्यारहवीं भावना का नाम धर्मदुर्लभभावना न रखकर बोधिदुर्लभभावना रखा गया है, जो कि सर्वथा उपयुक्त है।

उत्तमक्षमादिरूप अथवा सम्यग्दर्शनादिरूप अहिंसक वीतराग-परिणति ही निज भगवान आत्मा की सच्ची आराधना है, मुक्तिरूपी साध्य को सिद्ध करनेवाली सम्यक् साधना है, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की जननी एवं संसार-

१. बारस अणुवेक्खा, गाथा ८६

सागर के पार उतारनेवाली भव्यभावना है। यह अहिंसक वीतराग-परिणति ही वास्तविक धर्म है, इसके ही प्रकटरूप उत्तमक्षमादि दशधर्म हैं।

जिस आत्मस्वभाव के आश्रय से उक्त अहिंसक वीतराग-परिणति उत्पन्न होती है; 'वत्थु सहावो धम्मो - वस्तु का स्वभाव ही धर्म है' - इस कथन के अनुसार वह आत्मस्वभाव भी धर्म है और उस आत्मस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतराग-परिणति भी धर्म है। इसी वीतराग-परिणति का नाम ही भगवती अहिंसा है, जिसे परमधर्म कहा जाता है।

जैसा कि कसायपाहुड़ के निम्नांकित कथन से स्पष्ट है -

"रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं त्ति देसिदं समये।
तेसिं चे उत्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा॥[१]

आत्मा में रागादिभावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है और रागादिभावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है - ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया है।[२]

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्यग्यदर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म, उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म; निज भगवान आत्मा की उपासना, आराधना, भावना एवं साधना तथा भगवती अहिंसा - ये सभी एकमात्र वीतराग-परिणतिरूप धर्म के ही रूपान्तर हैं, नामान्तर हैं; अतः इन सबकी भावना ही धर्मभावना है। इन सबका वैराग्योत्पादक आत्मोन्मुखी चिन्तन ही धर्मभावना का मूल भाव्य है।

वीतराग-परिणतिरूप शुद्ध परिणामों में सभी धर्म समाहित हो जाते हैं। जैसा कि परमात्मप्रकाश की टीका में कहा गया है -

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १, पृष्ट २२५
२. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप॥ ४४॥

''सांसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य नरेन्द्रनागेन्द्रदेवेन्द्रवन्द्ये मोक्षपदे धरतीति धर्म इति धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव ग्राह्यः। तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मा अन्तर्भूता लभ्यन्ते। तथा अहिंसालक्षणो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धभावं बिना न संभवति। सागारानगारलक्षणो धर्मः सोऽपि तथैव। उत्तमक्षमादि दशविधो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धभावमपेक्षते। 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः' इत्युक्तं यद् धर्मलक्षणं तदपि तथैव। रागद्वेशमोहरहितः परिणामो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धस्वभाव एव। वस्तुस्वभावो धर्मः सोऽपि तथैव।[१]

संसार में पड़े हुए प्राणियों को संसारदुःखों से निकाल कर नरेन्द्र, नागेन्द्र और देवेन्द्रों द्वारा वंदनीय मोक्षपद में जो धारण करा दे, वही धर्म है। यहाँ 'धर्म' शब्द से निश्चय से जीव के शुद्ध परिणाम ही ग्रहण करना चाहिए। उन शुद्ध परिणामों में वीतराग-सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित नयविभाग से सभी धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं। अहिंसा धर्म भी जीव के शुद्ध भावों के बिना संभव नहीं है। इसीप्रकार गृहस्थ और मुनिधर्म तथा उत्तमक्षमादि दशधर्म भी जीव के शुद्ध स्वभावों की अपेक्षा रखते हैं। 'धर्म के यह लक्षण भी जीव का शुद्ध स्वभाव ही है तथा राग-द्वेष-मोह रहित आत्मा का परिणामरूप धर्म भी जीव का शुद्धस्वभाव ही है। इसीप्रकार वस्तु का स्वभाव धर्म है – यह कथन भी जीव के शुद्धस्वभावरूप धर्म को ही बताता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह बात हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निर्मलपरिणाम – शुद्धभाव ही वास्तविक धर्म है। विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं से की गई धर्म की व्याख्याएँ विभिन्न प्रकार से जीव के स्वभावभावरूप शुद्धपरिणामों को ही धर्म निरूपति करती हैं, उनमें कहीं कोई विरोधाभास नहीं है।

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में धर्म को शुद्धभाव, वीतरागता आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। धर्म के नामान्तर बताते हुए द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्रकार माइल्लधवल लिखते हैं –

---

१. परमात्मप्रकाश ; अध्याय २, दूहा ६८ की श्रीमद् ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका

"समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।
तह चारित्तं धम्मो सहाव आराहणा भणिया॥३५७॥

समता, माध्यस्थ्यभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र और स्वभाव की आराधना – इन सबको धर्म कहा जाता है।"

विश्वविख्यात समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो निज भगवान आत्मा की आराधना को धर्म कहता है; स्वयं के दर्शन को सम्यग्दर्शन, स्वयं के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और स्वयं के ध्यान को सम्यक्चारित्र कहकर इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही वास्तविक धर्म घोषित करता है। ईश्वर की गुलामी से भी मुक्त करनेवाला अनन्त स्वतंत्रता का उद्घोषक यह दर्शन प्रत्येक आत्मा को सर्वप्रभुतासम्पन्न परमात्मा घोषित करता है और उस परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय भी स्वावलम्बन को ही बताता है।

यद्यपि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से स्वयं परमात्मा ही है; तथापि यह अपने परमात्मस्वभाव को भूलकर स्वयं पामर बन रहा है। पर्यायगत पामरता को समाप्त कर स्वभावगत प्रभुता को पर्याय में प्रगट करने का एकमात्र उपाय पर्याय में स्वभावगत प्रभुता की स्वीकृति ही है, अनुभूति ही है। स्वभावगत प्रभुता की पर्याय में स्वीकृति एवं स्वभावसन्मुख होकर पर्याय की स्वभाव में स्थिरता ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, धर्मभावना है।

पर्याय की पामरता के नाश का उपाय पर्याय की पामरता का चिन्तन नहीं, स्वभाव के सामर्थ्य का श्रद्धान है, ज्ञान है। स्व-स्वभाव के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान का नाम ही धर्म है; धर्म की साधना है, आराधना है, उपासना है, धर्म की भावना है, धर्मभावना है।

निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली यह धर्मभावना, धर्मरूपपर्याय निज भगवान आत्मा का ही वरण करे, निज भगवान आत्मा का ही शरण ग्रहण करे और सम्पूर्ण जगत धर्ममय हो जाय, शर्ममय (सुखमय) हो जाय – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

अभिमत

मुनिराजों, व्रतियों, विद्वानों एवं लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

अध्यात्मयोगी मुनि श्री विजयसागरजी महाराज

'बारहभावना : एक अनुशीलन' बहुत ही खोजपूर्ण, शास्त्रों का सार निकालकर सुन्दर ढंग से लिखी गई पुस्तक है। डॉ. भारिल्ल ने पद्यमय स्वरचित बारहभावना में

"मैं ध्येय हूँ, श्रद्धेय हूँ, मैं ज्ञेय हूँ, मैं ज्ञान हूँ।
बस एक ज्ञायक भाव हूँ मैं, मैं स्वयं भगवान हूँ॥

ऐसा लिखकर सभी मनुष्य आत्मानुभूति प्राप्त करें - ऐसी भावना व्यक्त की है।" मेरे विचार भी ऐसे ही हैं कि इस "बारहभावना : एक अनुशीलन" के रहस्य को समझकर सभी आत्मार्थी आत्मानुभूति प्राप्त करें। तभी इस पुस्तक का प्रकाशन सार्थक होगा।

ब्र. पं. मुन्नालालजी रांधेलीय 'वर्णी' न्यायतीर्थ, सागर (म. प्र.)

बारहभावना पुस्तक अति आकर्षक व उपयोगी है। पुस्तक की प्रमुख नवीनता यह है कि विद्वान लेखक ने त्याज्य विषयों की बुराई न बताकर आत्मा की भलाई एवं महत्ता दर्शाई है।

ब्र. पण्डित श्री माणिकचन्दजी चंवरे, न्यायतीर्थ, कारंजा (महाराष्ट्र)

अत्यन्त उपयोगी इस सम्पूर्ण कृति को आद्योपान्त गहराई से पढ़ा। इसमें पूर्व आचार्यों द्वारा प्रणीत तथ्यों का समावेश है। पद्यरचना भी रसपूर्ण सुश्लिष्ट एवं सर्वंकष है। सम्पूर्ण कृति आगम के आधार पर होते हुए भी इसमें स्वतन्त्र चिन्तन भी प्रस्तुत हुआ है।

ब्र. श्री यशपालजी जैन, एम.ए., जयपुर (राजस्थान)

'बारहभावना : एक अनुशीलन' बहुत ही उपयोगी कृति है। प्रत्येक अनुप्रेक्षा की स्वतन्त्र पद्य रचना इसकी प्रमुख विशेषता है। हिन्दी साहित्य में रचित अनुप्रेक्षाओं के भी इसमें मर्मस्थल अंकित किए गए हैं। डॉ. भारिल्ल की अन्य कृतियों के समान इसका भी अन्य भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए।

ब्र. पण्डित श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी (म.प्र.)

डॉ. भारिल्लजी की यह कृति भावपूर्ण भावनाओं को उभारनेवाली है। भावनाओं के अनुशीलन में जो उनका गंभीर चिन्तन व्यक्त हुआ है, वह सामायिक आदि के अवसर पर बढ़िया अवलम्बन है।

ब्र. विदुषी गजाबेन शहा, बाहुबली, कुंभोज (महाराष्ट्र)

प्रत्येक आगमाभ्यासी को इसका चिन्तन-मनन करना चाहिए। जीवन में आनेवाली प्रतिकूल परिस्थितियों में यह पुस्तक दीपस्तम्भ का कार्य करेगी। ऐसा विश्वास है। इसे घर-घर पहुँचाया जाना चाहिए।

ब्र. हेमचन्दजी जैन 'हेम' इंजीनियर, पिपलानी, भोपाल (म.प्र.)

डॉ. भारिल्लजी द्वारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रची गई बारह भावनाएँ भाने लायक भजनीय हैं। यह अनमोल कृति शारीरिक वेदनादि के क्षणों में उपयोग को भेदज्ञान के चिन्तवन में रमाये रखने हेतु अनुपम है, जो आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान से बचाए रखती है एवं धर्मध्यान में चित्त को स्थिर कराने में निमित्त होती है।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री, वाराणसी (उ.प्र.)

डॉ. भारिल्ल सुलझे हुए विचारों के विद्वान् हैं। उनका तत्त्वज्ञान संबंधी अध्ययन तलस्पर्शी है। साथ में वे अच्छे कवि भी हैं। उनकी यह कृति वैराग्योत्पादक है तथा 'राजा राणा छत्रपति' बारहभावना के समान यह भी पाठक के हृदय को स्पर्श करनेवाली है। हम हृदय से उनकी इस रचना का स्वागत करते हैं।

प्रतिष्ठाचार्य पण्डित श्री नाथूलालजी शास्त्री, इन्दौर (म.प्र.)

'बारहभावना : एक अनुशीलन' ग्रन्थ का अभी तक उपलब्ध बारहभावना सम्बन्धी रचनाओं में विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक भावना के भाव को विविध दृष्टिकोणों से स्पष्ट करने के लिए अन्य ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत कृति में पढ़ने को मिलते हैं। मानसिक शान्ति और आत्महित की दृष्टि से यह रचना अत्यन्त उपयोगी और चिन्तन-मनन करने योग्य है। पद्यमय बारहभावनाएँ भी भावपूर्ण रचना है।

डॉ. भारिल्लजी की भाषा-शैली सरल एवं सुबोध है।

डॉ. पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, सागर (म.प्र.)

'बारहभावना : एक अनुशीलन' आत्महितैषियों के लिए उत्तम ग्रंथ है। डॉ. भारिल्ल के द्वारा लिखित प्रत्येक भावना की पद्य रचना, उनका हिन्दी गद्य में रूपान्तर और उसके बाद विशद विवेचन किया गया है। भाव को स्पष्ट करने के लिए अनेक ग्रंथों के उद्धरण दिए गए हैं। भाव और भाषा - दोनों पर लेखक का अधिकार है। मुखपृष्ठ का चित्र बड़ा ही भावपूर्ण है।

इसमें डॉ. भारिल्ल ने प्रारंभ की छह भावनाओं का वैराग्यपरक एवं शेष छह भावनाओं को तत्त्वपरक बताया है, जो संगत लगता है।

डॉ. राजारामजी जैन, ह.द. जैन डिग्री कॉलेज, आरा (बिहार)

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस ने जिसप्रकार वाल्मीकि रामायण को तथा प्राचीन हिन्दी की बारहभावनाओं ने जिसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द एवं स्वामिकार्तिकेय द्वारा प्राकृत भाषा में लिखित द्वादशानुप्रेक्षाओं को सामान्य पठन-पाठन से दूर कर दिया; उसीप्रकार डॉ. हुकमचंद भारिल्ल की बारहभावनाएँ भी पूर्व प्रचलित हिन्दी बारह भावनाओं को सामान्य पठन-पाठन से कहीं दूर न कर दें? क्योंकि डॉ. भारिल्ल की सुघड़ एवं सन्तुलित लेखनी ने वैदर्भी शैली में गेय पदों में बारहभावनाओं का ग्रंथन कर अध्यात्म-जगत को एक भावपूर्ण नवीन मौलिक कृति प्रदान की है। साथ में तुलनात्मक विश्लेषण संयुक्त कर आत्मशोधकों एवं दर्शन के अनुसन्धित्सुओं के लिए भी एक सबल सम्बल प्रदान किया है।

इतिहासरत्न डॉ. ज्योतिप्रसादजी जैन, लखनऊ (उ.प्र.)

यह खोजपूर्ण निबंध उत्तम, मननीय एवं उपयोगी है। बारहभावनाओं का क्रमशः विवेचन बड़ा ही प्रभावक है। डॉ. भारिल्ल द्वारा रचित प्रत्येक भावना के छन्द भी पुरातन भावना साहित्य में उत्तम योगदान है। आध्यात्मिक विचारों के प्रचार में डॉ. भारिल्ल का प्रभूत योगदान प्रशंसनीय है।

डॉ. देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, शा. महाविद्यालय, नीमच (म.प्र.)

विद्वान लेखक ने बारहभावनाओं का अनुशीलन कर संयोगी सम्बन्धों तथा पर्यायों में आसक्त पामर जनों की दृष्टि को सम्यक् बनाने के लिए यथार्थ वर्णन किया है।

आशा है यह रचना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

आध्यात्मिक चिन्तक डॉ. चन्दूभाई कामदार, राजकोट (गुजरात)

'बारहभावना : एक अनुशीलन' में लिखे गए सभी निबन्ध अत्यन्त सुन्दर और सुबोध भाषा में हैं, जो सामान्यजीवों के लिए उपयोगी हैं। सभी भावनाएँ आध्यात्मिक भावों से भरी हुई हैं तथा इनमें वास्तव में वैराग्य और ज्ञान की जननी भावनाओं का वर्णन हुआ है।

डॉ. भारिल्ल की एक के बाद एक कृतियाँ प्रकाशित हो रही हैं। मैं धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, जिनवरस्य नयचक्रम् आदि कृतियों का बारम्बार अध्ययन करता हूँ। इतना सुन्दर कार्य करते हुए वे वास्तव में पूज्य कानजी स्वामी के द्वारा बताए हुए तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं।

डॉ. प्रेमचन्द रांवका, प्रा. महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर (राज.)

बारहभावना पुस्तक के आन्तरिक शीर्षकों में प्रत्येक भावना पर स्पष्टरूप से विश्लेषण एवं चिन्तन प्रस्तुत किया है, साथ ही प्रारंभ में काव्यांजलि ने उसमें सौरभ भी प्रदान किया है।

डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ, प्रा. कुमाऊं विश्वविद्यालय, नैनीताल (उ.प्र.)

डॉ. भारिल्ल ने सरल एवं सहज शब्दावली में प्रत्येक भावना की काव्य-परक प्रस्तुति कर आध्यात्मिक चिन्तन सहज ग्राह्य एवं गेय सुलभ बना दिया है।

डॉ. राजेन्द्र बंसल, कार्मिक प्रबन्धक, अमलाई (म.प्र.)

डॉ. भारिल्ल तार्किक एवं विचारक ही नहीं, अपितु आकर्षक शैली के प्रवचनकार होते हुए एक सहृदय कवि भी हैं। उनका कवि हृदय बारहभावनाओं के रूप में परिलक्षित होता है, जो उनके बहुमुखी प्रतिभा के धनी होने की सहज ही पुष्टि करता है। डॉ. भारिल्ल की बुद्धिमत्तापूर्ण खोजपूर्ण लेखन शैली एवं भावों के अनुरूप भाषा आदि का स्पष्ट दिग्दर्शन 'बारहभावना : एक अनुशीलन' में होता है। इस कृति में वास्तव में "गागर में सागर" जैसा धर्म का मर्म भरा है।

प्रो. उदयचन्द्रजी सर्वदर्शनाचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

डॉ. भारिल्ल एक सिद्धहस्त लेखक हैं। उनकी कृतियों की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना है। उन्होंने आगम के परिप्रेक्ष्य में बारहभावनाओं पर विशद प्रकाश डाला है। पुस्तक पठनीय तथा संग्रहणीय है।

आयुर्वेदाचार्य पण्डित राजकुमारजी शास्त्री, निवाई (राज.)

डॉ. भारिल्ल एक अच्छे प्रवक्ता, प्रबुद्ध विचारक और कुशल लेखक हैं। आपके बोलने और लिखने की एक विशेष शैली है। भाषा सरल और सुबोध है, जिससे श्रोताओं और पाठकों के हृदयस्थल बड़े प्रभावित होते हैं और कठिनतम विषय को भी हृदयगंम कर लेते हैं।

पण्डित धन्यकुमारजी गंगासा भोंरे, न्यायतीर्थ, कारजा (महाराष्ट्र)

'बारहभावना : एक अनुशीलन' पुस्तक में आध्यात्मिक और तात्त्विक विषय बड़ी रोचक शैली में प्रस्तुत किए हैं। यह पुस्तक जैन साहित्य में नए कीर्तिमान स्थापित करेगी।

पं. भरतचक्रवर्तीजी न्यायतीर्थ, सम्पादक – आत्मधर्म (तमिल) मद्रास

यह पुस्तक अपने ढंग की अनूठी कृति है। पुस्तक में प्रथम छः भावनाएँ संयोगों और उनके स्वभावों से भिन्न बताकर निजात्म स्वभाव की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा देती हैं। द्वितीय छः भावनाएँ संयोगी भावों से भी भिन्न बताकर निज चेतन स्वभाव में तल्लीनता की ओर ले जाती हैं। पुस्तक में डॉक्टर साहब की तर्क शक्ति खुलकर निखर पड़ी है।

पं. ज्ञानचंदजी जैन 'स्वतंत्र' सह सम्पादक, जैनमित्र, सूरत (गुज.)

यह कृति समयोपयोगी, नूतन एवं मौलिक है। संकट, आपत्ति, इष्ट-वियोग तथा रुग्णावस्था में इसका स्वाध्याय करने से आर्त-रौद्र परिणाम नहीं होते, कर्मों के बन्धन शिथिल होते हैं, मन को शान्ति मिलती है।

श्री अक्षयकुमारजी जैन, भू. पू. सम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली

बारहभावनाओं पर डॉ. भारिल्लजी ने अपनी सरल, सुबोध और आकर्षक शैली के द्वारा सामान्य-जन के लिए विशद वर्णन कर दिया है। हर भावना के साथ पद्य में भी 'भावना' की भावना को स्पष्ट कर दिया है।

यह कृति समाज में अत्यन्त समादृत एवं लाभकारी सिद्ध होगी।

श्री यशपालजी जैन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

बारहभावनाओं का अनुशीलन कर डॉ. भारिल्ल ने प्रत्येक भावना को इतना सरल कर दिया है कि सामान्य पढ़ा-लिखा जिज्ञासु भी उसे आसानी से समझ सकता है। इस कृति ने निश्चय ही विषय-वस्तु को गहराई से समझने और हृदयंगम करने को प्रोत्साहित किया है।

वाणीभूषण पण्डित ज्ञानचंदजी जैन, विदिश (म.प्र.)

अनेक भावनाओं के मंथन स्वरूप डॉ. भारिल्लजी ने एक ऐसी पुस्तक तैयार कर दी है, जिसके बार-बार मनन करने से हृदय में वैराग्य की हिलोरें उठती रहती हैं।

पुरातत्वविद् श्री नीरज जैन, सतना (म.प्र.)

भाई हुकमचंद भारिल्ल ने इस छोटी-सी पुस्तक में बारहभावनाओं के सभी कवियों की वाणी का संकलन तो किया ही है, अपनी स्वरचित कविता द्वारा भी उसकी उपयोगिता बढ़ाई है। इन पद्यों का जो हिन्दी सरलार्थ किया गया है, वह डॉ. भारिल्ल की अपनी विशेषता है।

यह बारहभावना जन-जन का कण्ठहार बने – ऐसी मेरी भावना है।

श्री बी. टी. बेडगे, एम. ए., बी.एड., बाहुबली (महाराष्ट्र)

डॉ. भारिल्ल की अनुपम कृति 'बारहभावना : एक अनुशीलन' आगम का मंथन करके निकाला हुआ अमृत है। विषय-वस्तु को हृदयंगम कराने की भारिल्लजी की शैली अद्‌भुत है।

आचार्य योगीश, पा. वि. शोध संस्थान, वाराणसी (उ.प्र.)

कृति का समस्त सार **'अंजुली जल सम जवानी क्षीण होती जा रही'** इस पंक्ति तथा मुखपृष्ठ के चंचल जवानी से वृद्धावस्था तक के चित्रों में तरंगायित हो उठा है। पुस्तक की भाषा सरल, सुबोध होने के साथ-साथ सहज गम्य है।

पण्डित प्रकाशचंद 'हितैषी' शास्त्री, सम्पादक-सन्मति संदेश, दिल्ली

उक्त कृति में बारहभावनाओं का मूल उद्देश्य, उसकी अन्तर्भावना और इसके अन्तर्गत छिपे हुए रहस्य को उद्‌घाटित किया है। इसे जयचंदजी छाबड़ा कृत बारहभावनाओं के समकक्ष कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. **अध्यात्म भजन भावना संग्रह :** श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, विदिशा (म.प्र.)

२. **आत्मानुशासन :** आचार्य गुणभद्र : श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी

३. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा :** स्वामी कार्तिकेय : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

४. **छहढाला :** कविवर बुधजनजी

५. **छहढाला :** कविवर पण्डित दौलतरामजी; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

६. **जिनेन्द्र अर्चना :** अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर – १५

७. **जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश भाग १ :** क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

८. **तत्त्वार्थसूत्र :** आचार्य उमास्वामी; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

९. **तत्त्वार्थराजवार्तिक:** आचार्य अकलंकदेव; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

१०. **परमात्मप्रकाश :** श्रीमद् योगीन्दुदेव; श्री ब्रह्मदेव विरचित संस्कृत वृत्ति सहित; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुज.)

११. **पद्मनन्दि-पंचविंशति :** सम्पादक – श्री बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर

१२. **प्रवचनरत्नाकर भाग ३ (हिन्दी) :** श्री कानजी स्वामी के प्रवचन; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर (राज.)

१३. **पार्श्वपुराण** : कविवर भूधरदासजी; वीर पुस्तक भण्डार, मणिहारों का रास्ता, जयपुर (राज.)

१४. **बारस अणुवेक्खा** : आचार्य कुन्दकुन्द; प्रकाशक - कान्ताबेन छोटालाल वोरा, मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

१५. **भगवती आराधना** : प्रकाशक - सखाराम दोशी, शोलापुर (महा.)

१६. **भागचन्द पद संग्रह** : जैन पुस्तक भवन, १६१/१, महात्मा गाँधी रोड, कलकत्ता

१७. **मोक्षमार्गप्रकाशक**: पण्डित टोडरमल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर (राज.)

१८. **योगसार** : श्रीमद् योगीन्दुदेव; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

१९. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** : (भाषा टीका सहित) आचार्य समन्तभद्र; पण्डित सदासुखदासजी कासलीवाल; श्री मध्यक्षेत्रीय मुमुक्षु मण्डल संघ, सागर (म.प्र.)

२०. **वृहद्द्रव्यसंग्रह** : श्रीमद् नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव; श्री ब्रह्मदेव विरचित संस्कृत वृति सहित, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर

२१. **समयसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार - आचार्य अमृतचन्द्र; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर (राज.)

२२. **समयसार नाटक** : कविवर पण्डित बनारसीदासजी, श्री कुन्दकुन्द - कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर (राज.)

२३. **सर्वार्थसिद्धि** : आचार्य पूज्यपाद; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

२४. **ज्ञानार्णव** : आचार्य शुभचन्द्र; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर

२५. **ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि** : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

समयसार (ज्ञायकभाव प्रबोधिनी)	५०.००	निमित्तोपादान	३.५०
समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००	मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००	रीति-नीति	३.००
समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००	शाकाहार	२.५०
समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००	तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
समयसार का सार	३०.००	चैतन्य चमत्कार	२.००
प्रवचनसार का सार	३०.००	गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३०.००	गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
परम्रभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००	अनेकान्त और स्याद्वाद	१.००
चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००	शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१.५०
तीर्थं.महावीर और उनका सर्वो.तीर्थ	१५.००	बिन्दु में सिन्धु	२.००
धर्म के दशलक्षण	१६.००	बारह भावना एवं जिनेंद्र वंदना	२.००
क्रमबद्धपर्याय	१२.००	कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	१.००
बिखरे मोती	१६.००	शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
सत्य की खोज	१६.००	समयसार पद्यानुवाद	३.००
अध्यात्मनवनीत	१५.००	योगसार पद्यानुवाद	०.५०
आप कुछ भी कहो	१०.००	समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
आत्मा ही है शरण	१५.००	प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
सुक्ति-सुधा	१८.००	द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
बारह भावना : एक अनुशीलन	१५.००	अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
दृष्टि का विषय	१०.००	अर्चना जेबी	१.००
गागर में सागर	७.००	कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	८.००	शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००	बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००	बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
आ.कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१२.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
पश्चात्ताप	६.००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
मैं कौन हूँ	४.००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००